* १ ओंकार सतिगुर प्रसादि *

श्रीजपुजी साहिब

सटीक

टीकाकार—

श्रीमान् प्रोफैसर तेजासिंहजी एम. ए.

अनुवादक—

गुरांदित्ता खन्ना

मुद्रक व प्रकाशक :—

श्रीनाभा नरेश महाराजा गुरुचरणसिंह साहिब
मालवेन्द्र बहादुर ने

कुम्भ के यात्रियों को मुफ्त भेंट करने के लिये
प्रकाशित किया ।

१ ओंकार सतिगुर प्रसादि ।

श्रीगुरु नानकदेवजी की

दिव्य वाणी

श्रीजपुजी साहिब सटीक

टीकाकार

श्रीमान् प्रोफैसर तेजासिंहजी एम०ए०

खालसा कालिज अमृतसर

अनुवादक

गुरांदिता खन्ना

भूतपूर्व—"प्रेम" सम्पादक,

और वर्त्तमान—"बसन्त" सम्पादक,

मुद्रक व प्रकाशक

श्रीनाभानरेश महाराज गुरुचरणसिंह साहिब मालवेन्द्र बहादुरने

कुम्भ के यात्रियों को मुफ्त भेट करने केलिए

प्रकाशित किया ।

द्वितीयबार ३००० } सं० १९८४ वि० { अमूल्य भेंट
सन् १९२७ ई०

पं० अनन्तराम शर्म्मा के प्रबन्ध से

सद्धर्म-प्रचारक यन्त्रालय दरियागञ्ज देहली में छपा।

प्रस्तावना।

श्रीगुरु नानकदेवजी की दिव्यवाणी "श्रीजपुजी साहिब" १२ लाख खालसा भाइयों के लिए ही नहीं, परन्तु लाखों पंजाबी हिन्दुओं के लिये भी नित्य-पठनीय वाणी है। इस पर सैंकड़ों टीकाएं पञ्जाबी में और कई उर्दू वा अंग्रेज़ी में विद्यमान हैं। हिन्दी में भी एक टीका लखनऊ के किसी प्रेस द्वारा और एक शि० गु० प्र० कमेटी द्वारा प्रकाशित हो चुकी है। लखनऊ वाली टीका शायद किसी निर्मले सन्त द्वारा और शि० गु० प्र० कमेटी वाली इन पंक्तियों के लेखक द्वारा, श्रीमान् प्रोफैसर जोधसिंहजी एम. ए. कृत टीका का हिन्दी अनुवाद है। प्रस्तुत यह टीका तीसरी है, जो हिन्दी भाषा-भाषियों के कर-कमलों में पहुंच रही है। इसके मूल टीका कार सुप्रसिद्ध विद्वान श्रीमान् प्रोफैसर तेजासिंहजी एम. ए. हैं। आप गुरबाणी के पूरे मर्मज्ञ, पञ्जाबी और अंग्रेज़ी के धुरन्धर विद्वान् और सच्चे नेता हैं। सिख-समाज में आपका आसन बहुत ऊंचा है। प्रस्तुत पुस्तक ने पञ्जाबी-साहित्य-संसार में आप का आसन और भी ऊँचा कर दिया है। यह पुस्तक आपकी विद्या-बुद्धि का ज्वलन्त उदाहरण है। इसमें आप ने बड़ी ही सुन्दरता के साथ गुरु महाराज का आशय समझाया है। भूले हुओं को राह बतलाया है। मन-माने अर्थ करने वालों को उनके लिये अन्त में परिशिष्ट लिखकर अर्थ करने का मार्ग दिखलाया है। अज्ञानता-वश जो

लोग कहा करते हैं कि श्रीगुरुग्रन्थ साहिब में अस्थिरता आदि दोष हैं, उन का यह अज्ञान-मूलक भ्रम मिटाया है, और बतलाया है कि अमुक शब्द के साथ एक जगह " ु " है और एक जगह नहीं है, एक जगह "ि" है और एक जगह नहीं है। इसका कारण क्या है ?

इसके अतिरिक्त और भी कई प्रकार की शङ्काओं का समाधान इस में किया गया है, जो पढ़ने से ही ज्ञात हो सकता है। यह पुस्तक मूल गुरुमुखी अक्षर, और पञ्जाबी भाषा में है। लोकल गुरुद्वारा-प्रबन्धक कमेटी (अमृतसर) की आज्ञानुसार मैंने इसे हिन्दी में अनुवादित किया है। अपनी शक्ति के अनुसार जहां तक मुझ से हो सका है, मैंने इसे शुद्ध और सरल बनाने का पूरा पूरा प्रयत्न किया है। मूल-वाणी को पूर्णतया उसी प्रकार लिखा है, जिस प्रकार गुरुमुखी अक्षरों में लिखे हुए श्रीगुरुग्रन्थ-साहिब में है। इस प्रकार लिखा हुआ पढ़ने में उन लोगों को अवश्य ही कुछ कष्ट सा होगा, जिन्हें गुरु-वाणी या प्राचीन साहित्य पढने का अभ्यास नहीं हैं। पर जो लोग प्राचीन साहित्य पढ़ने की चाह रखते हैं, उन के लिये इस में कोई भी कठिनाई नहीं है। अस्तु, जैसा भी मुझ से सम्भव था, मैंने कर दिया, आशा है कि प्रत्येक सज्जन इस को पसन्द कर के लेखक और प्रकाशक का उत्साह बढ़ायेंगे।

धन्यवाद ।

इस प्रस्तावना को समाप्त करने से पहिले मैं उन सज्जनों को हार्दिक धन्यवाद देना अपना कर्तव्य समझता हूँ, कि जिनकी कृपा से मैं इस पुस्तक को हिन्दी-साहित्य-संसार के सामने रख सका हूँ। इन में सब से पहिले मैं श्रीमान् प्रोफैसर तेजासिंह जी एम. ए. का धन्यवाद करता हूँ, कि जिन्होंने अत्यन्त कृपा-पूर्वक प्रस्तुत पुस्तक का हिन्दी अनुवाद करने की मुझे केवल आज्ञा ही नहीं दी, प्रत्युत प्रत्तोत्साहन भी दिया है। सच तो यह है कि यदि यह महानुभाव मेरी सहायता न करते तो शायद मैं इसे पूर्ण कर ही न सकता। उन के बाद लोकल गुरुद्वारा कमेटी को भी धन्यवाद है, जिसने कि इस पुस्तक को इस प्रकार सर्वाङ्ग सुन्दर प्रकाशित किया है इस में सब से अधिक परिश्रम उक्त कमेटी के उपमन्त्री श्रीमान् सरदार उजागरसिंहजी को हुआ है। इसका फायनल प्रूफ दिखाने और लाहौर भेजने आदि में आपको बहुत मेहनत करनी पड़ी है। इस लिये आप का जितना भी धन्यवाद किया जाय थोड़ा है। शि० गु० प्र० कमेटी के आफ़िस सुपरिन्टेन्डेण्ट सरदार लालसिंहजी बी. ए. को भी बारम्बार धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने कि अपना बहुत सा अमूल्य समय व्यय करके बड़े ध्यान से इसका प्रूफ देखा है। बाम्बे मैशीन प्रेस के सुयोग्य मैनेजर श्रीयुत पं० शरत-

चन्द्रजी लखनपाल और उन के सुहृदय भ्राता श्रीयुत पं० शुचिव्रतजी लखनपाल, संस्कृत-भूषण शास्त्री का तो कहना ही क्या है। सच तो यह है कि इस पुस्तक का इस प्रकार छापना आप का ही काम था। आप ने न केवल प्रिन्टर का ही काम किया है, परन्तु संशोधक का भी। इसी लिये मैं नहीं जानता, कि किन शब्दों में मैं इनका धन्यवाद करूं, इस वास्ते लेखनी को यहीं रोकता हूँ।

अनन्त-चतुर्दशी
सं० १९८३ } गुरांदित्ता खन्ना,

प्रस्तावना

(दूसरे संस्करण की)

प्रसन्नता की बात है कि इस पुस्तक की २००० प्रतियों के पहले संस्करण को छपे अभी पूरा एक वर्ष भी नहीं हुआ कि अब फिर दोबारा इसे पहले से भी ज्यादा उत्साह के साथ छपवाना पड़ा है। अवश्य ही यह गुरु के सच्चे लाल अकाली भाईयों की उदारता और गुरुवाणी प्रेमी हिन्दीभाषा भाषियों की कदरदानी का नतीजा है। आशा है कि पहले की तरह यह संस्करण भी जल्दी ही हाथों हाथ लग जायगा और फिर शीघ्र ही तीसरा संस्करण छपवाना पड़ेगा।

पहले संस्करण में गुरुवाणी आदि में जो गलतियें रह गई थीं वह इस बार सुधार दी हैं और जो इस में रह जांयगी यह अगले में सुधार दी जांयगी।

चौक लोहगढ़
अमृतसर
चैत्र शुदि १ सं० १९८४ वि० गुरांदित्ता खन्ना

भूमिका ।

जपुजी साहिब सिक्खों के "नित्य-नियम" का एक वाणी है, अर्थात् नित्यपठनीय एक धर्म पुस्तक है । इसका पाठ प्रातःकाल किया जाता है। यूं तो वाणी को किसी समय भी पढ़िये, लाभ ही होता है, परन्तु क्योंकि मन की वृत्तिए प्रत्येक समय एक सा काम नहीं करती, इसलिये पढ़ने सुनने का प्रभाव भी प्रत्येक समय एकसा नहीं होता। जहाँ गुरुसाहिबानने मनुष्य के आत्महित प्रत्येक प्रकार का भक्ष्य तैयार किया है, वहाँ साथ ही यह भी यत्न किया है, कि खाद्य पदार्थ ऐसे ढङ्ग से बना हो, और उसको (मनुष्य को ऐसे समय पर पहुंचे, जब कि ठीक जीर्ण (हज़म) हो कर उस की आत्मिक-शक्ति को बढ़ावे। इस लिये प्रातः, सायं और रात के लिए जो वाणिएं नियत की गई हैं, वे भाव, बोली और आकार में चित्त की समयानुसार बदलती अवस्थाओं के अनुकूल हैं। "जपुजी" जैसी कठिन वाणी को प्रातःकाल के लिए इस वास्ते रक्खा है, कि रात्रि के विश्राम से चित्त शान्त होकर निर्मल हुआ होता है, और अमृत-समय (प्रातःकाल) की शीतल, मन्द, सुगन्धयुक्त वायु की सहायता से "जपुजी" में दिए गम्भीर विचारों की ओर ध्यान दिया जासकता है। यह सोचने और समझने की वाणी है, गाने की नहीं। इसी लिए इस के साथ कोई राग नहीं दिया हुआ। यह भी

हमारी सुगमता के लिये ही है, क्योंकि गान के लिए आवश्यक है, कि विचार सरल हो, और भाव प्रेम वा बैराग्ययुक्त हो—दार्शनिक कम हो "कीर्तन सोहिला" रात्रि के लिए है। जब दिन भर के काम से मन थका हुआ और वृत्तिएं बिखरी हुई होती हैं, उस समय रुचि को किसी कठिन उलझनदार विचार में डालना दुष्कर है। इस लिए अपने आप को निद्रा देवी की गोद में समर्पण करने से पूर्व आज्ञा है, कि एक छोटी सी वाणी जो छन्दोबद्ध है, गा कर या पढ़ कर अपने आत्मा को परमात्मा के चरणों में रक्खें। इस वाणी के विचार को और भी सुगम करने के लिए, उन को चित्रों के ढांचे में ढाला है, क्योंकि रात्रि को हमारी निरूपण-शक्ति बढ़ जाती है, और जिस प्रकार बालक विचारों को चित्रों द्वारा और वस्तुओं को किंडरगार्टन द्वारा शीघ्र समझ लेते हैं, उसी प्रकार हम सोते समय अपरिपक्व बुद्धि होने के कारण, कठिन विचारों को चित्रों के रूप में शीघ्र समझ लेते हैं। देखो परमात्मा की अनेकता में एकता के गम्भीर भाव को समय के अनेक भागों के होते, उनके कारण सूर्य के एक होने का उदाहरण दे कर कैसा सुगम कर दिखलाया है, और कैसे "हूं मैं" के भाव का नमूना कांटे से बिंधे हुए एक मनुष्य का चित्र लिख कर दिखाया है जिसका पांव पीड़ा के कारण चलता नहीं, और ऊपर से मृत्यु दण्ड मार मार कर हांकता चला जा रहा है। देखो मृत्यु के बुलाने पर

किस प्रकार आत्मा अपने परमात्मा के पास जाता है, और संयोग का चित्र कैसे एक पत्नी का पति के घर प्रथम-प्रवेश और सखियों के "तेल चोते" (द्वार पर तैल-सिंचन का शकुन) का चित्र लिखकर बतलाया है। इसी प्रकार अन्य वाणिएं अपने अपने समय के अनुकूल हैं।

प्रत्येक वाणी में गुरु साहिबान ने पृथक् पृथक् आशयों को मुख्य रख कर पृथक् पृथक् भाव और रस भरे हैं संसार के दुःखों से तङ्ग आए हुए मनुष्य को शान्ति देने के लिए और उन दुःखों को देखकर परमात्मा से विमुख होते हुए हृदयों में धैर्य और निश्चय उत्पन्न करने के लिए "सुखमणि" रची गई। दूसरी ओर सुखों के मद में आ कर परमात्मा को भूल जाने वाले और साध के मनुष्यों पर अन्याय करने वाले लोगों में वैराग्य उत्पन्न करने के लिए ६ वें महल के "श्लोक" विद्यमान हैं। शरीर और आत्मा के सम्बन्ध और शून्य और मन के विषय में तर्क वितर्क करने वाले कोरे दार्शनिकों की औषधि "सिद्ध-गोष्ठि" में है। परमात्मा के अनेक और अनन्त गुणों में से बहुत प्रसिद्ध प्रसिद्ध गुणों की माला "जपुजी साहिब" है। इसी प्रकार और कई वाणिएं हैं, जो गुरु के अस्तित्व पर विचार या कई प्रकार के पाखण्डों का प्रहार बतलाती हैं, या कोई और एकाध विचार प्रकट करती हैं। परन्तु "जपुजी" और "आसा दी वार" जो सिक्खों में सब से अधिक प्रचलित वाणिएं हैं, सिक्ख-धर्म के बहुत से सिद्धान्त बतलाती हैं।

"जपुजी" में मनुष्य-जीवन का सब से उच्च कोटि का ज्ञान है। इस में हमारे जीवन के वास्तविक मनोरथ और उन को प्राप्त करने के साधान बतलाए हुए हैं। सबसे बढ़कर इसमें मन को ऐसे साँचे में ढालने और उसके ऊपर ऐसी अवस्था लाने का ढङ्ग बतलाया है कि हमें जो भी धार्मिक उलझनें आपड़ें, उनको सुगमता से ही सुलझा सकें। गुरु नानक साहिब ने संसार में आकर देखा कि लोगों को वास्तविक अर्थों में धार्मिक बनाने में कठिनता यह नहीं, कि इन में धार्मिक श्रद्धा नहीं है; बल्कि त्रुटि यह है कि इन के चित्त और बुद्धि का ढांचा ही कुछ ऐसा बिगड़ गया है कि जो बातें वस्तुतः किसी मनोरथ की सिद्धि के लिये केवल आजी-विका के वास्ते बतलाई गई थीं, उनको यह भूलकर मनोरथ मानने लग गए हैं। उदाहरण के लिये तर्क विद्या मनुष्यों को भली प्रकार विचारना सिखलाती है, परन्तु लोग इस को धर्म मानकर जीवन का लक्ष्य ही मान बैठे थे। जिन्होंने अपने विचारों को शोध कर कोई क्रियात्मक जीवन बनाना था, वे आठों पहर "न्याय" और "वेदान्त" इत्यादि को ही घोखते रहते थे। पल में घर बाहर, भाई बन्धु, पाप पुण्य को मिथ्या प्रमाणित

---

* "पड़ि पड़ि पंडित जोतकी वाद करहि बीचारु।
मति बुधि भवी न बुझई अन्तरि लोभ विकारु॥
(श्रीराग म० ३)

कर देते थे, और असत्य, ठगी, यारी के होने हुए भी पञ्ज में मनुष्य को परमात्मा बना कर दिखलाने का आडम्बर रच देते थे। धार्मिक स्थानों में आरम्भ में तो किसी कदर अच्छा हो था क्योंकि यहाँ आ कर मनुष्य अपने पूर्वजों के चरित्र का स्मरण कर के अपने धार्मिक भाव जागृत कर सकता है, पर लोगों ने तीर्थों पर हो आना हो पापों से बचना और मुक्ति का प्राप्त करना मान लिया था। परमात्मा के गुणों को या धार्मिक नियमों को बतलाने के लिये कभी २ विशेष संख्या का प्रयोग करना पड़ता है, परन्तु लोगों ने तीन, पांच, सात इत्यादि अङ्कों को हो प्रधान मान लिया था, और उन के हो दास बन गए थे। अपने मन को वश में करना अच्छा है, परन्तु इस के नाम पर योगियों और यतियों के कई वेश हो बन गए थे। बात क्या? भारतवासियों ने मन की मकड़ी के जाल तान कर अपने आत्मा को बुरी तरह जकड़ रक्खा था। सब से पहिले और बड़ी आवश्यकता यही थी, कि उन के मनों को अपने ही लगाए हुए जाल में से निकाल कर स्वतन्त्र किया जाय, ताकि आरोग्य हो कर अच्छे २ गुण ग्रहण कर सकें।

"जपुजी साहिब" की भाषा पञ्जाबी है, और इस में यथा-सम्भव सादे और ठेठ पंजाबी शब्दों का ही प्रयोग करने का प्रयत्न किया गया है। शब्द बड़े सीधे साधे और प्रचलित हैं। फिर भी यह वाणी श्री गुरु ग्रन्थ साहिब में सब से कठिन है। इस के कई कारण हैं। पहिला यह कि विचार बड़े गम्भीर

और साधारण मनुष्यों की बुद्धि के लिए कठिन हैं। जब तक पाठक को गुरु साहिब के समय के मत मतान्तरों और विचार सम्बन्धी सिद्धान्तों का परिचय न हो तब तक वह इस वाणी के गम्भीर और गूढ़ भावों को नहीं समझ सकता, क्योंकि गुरु साहिब ने इस में विशेषतः पढ़े हुए "मूर्खों" की हिकमतों और कुतर्कों को ही जांच पड़ताल करके उन को सन्मार्गानुयायी बनाने का यत्न किया है।

दूसरी बात यह है कि वाणी की रचना बड़ी संक्षिप्त है। इस के साथ इस वाणी को कण्ठ करना तो सुगम हो जाता है, परन्तु इसी लिए इसका समझना भी बड़ा ही कठिन हो जाता है। गुरु जी ने अपने भाव को बहुत ही थोड़े शब्दों में प्रकट करने का यत्न किया है। उन्हों ने शब्दों के प्रयोग में इतना संकोच किया है, कि पुराने संस्कृत के सूत्र लिखने वालों की तरह एक मात्रा भी अधिक प्रयोग नहीं की। "कवणु सु वेला, वखतु कवणु" में "हिन्दुओं और मुसल्मानों की संख्या के अनुसार समय" कहने की जगह दोनों ओर के अपने अपने शब्द "वेला" और 'वखत' प्रयोग किये हैं। राग "आसा" में भी इसी प्रकार गुरु जी लिखते हैं:—"इकना वखतु खुआईअहि इकना पूजा जाइ" "सूत पलीती कपड़ु होइ" में मुसलमानों के पदों का प्रयोग कर के मुसलमानों की ओर इशारा किया है। इसी प्रकार "सुणिये" की पौड़ियों (पदों) में बड़े विस्तार वाले विचारों को ऐसा कस कर लिखा है कि मानों कूजे में

दरया बन्द कर दिया है। पंजाबी भाषा से इतना कठिन काम पहिले कभी नहीं लिया गया था और नहीं अब तक किसी और ने ही लिया है। पंजाबी में शब्दों की बहुत कमी थी और उन को धर्म वा ज्ञान के गूढ़ विचारों के प्रकट करने में प्रयुक्त नहीं किया गया था। इस लिए यह बड़े आश्चर्य्य की बात है कि गुरु नानक साहिब ने इस अप्रयुक्त शस्त्र का किस प्रकार इतनी सफलता से प्रयोग किया है। अब भी, यद्यपि पंजाबी भाषा पहले की अपेक्षा बहुत उन्नति कर चुकी है, फिर भी हमें कभी यह हौसला नहीं पड़ता कि हम अपने विचारों को उस संकोच से लिखें, जिस से कि गुरु जी ने अपना 'जपुजी साहब' लिखा है।

सांकेतिक भाषा में लिखा होने के अतिरिक्त "जपुजी" साहिब को एक और बात ने भी कठिन बनाया हुआ है। भारत-वर्ष में लोग शताब्दियों से यह मानते आए हैं, कि मन्त्रों को केवल मुख से बार २ कहना ही पुण्य है। यह नियम उस समय से आरम्भ हुआ जब संस्कृत के मन्त्र लिखे न होने से कण्ठस्थ कर के ही अपने पढ़ते थे। जब लिखना प्रचलित हुआ तो संस्कृत, जिस में वे मन्त्र बने होते थे सर्वसाधारण के प्रयोग से हट कर मुरदा हो चुकी थी। इस लिये मुख से रटना प्रचलित रहा, क्योंकि जब कोई बात समझ में न आवे तो उस का कण्ठ से उच्चारण करना वा किसी पुस्तक से पढ़ना एकसा ही है। गुरु नानक साहिब ने जहाँ और २ बातों का सुधार किया, वहाँ इस भ्रम को भी तोड़ा और अपनी वाणी को

देश की प्रचलित भाषा में रचना की। उन्हों ने लोगों को परमात्मा के साथ सीधे बातें करना सिखलाया और बतलाया कि इस कार्य्य के लिए कोई विशेष भाषा पवित्र नहीं और न कोई अपवित्र है। जिन शब्दों में भी हम परमात्मा को स्मरण करें, सत्य बोलें अथवा किसी अन्य प्रकार से भलाई का काम करें वे सारे ही पवित्र हैं। और जिन शब्दों में नीच विचार प्रकट किए जाएं वे चाहे संस्कृत में हों, अपवित्र ही हैं। लोगों ने इस शिक्षा को कुछ समय ग्रहण किया फिर जब और सिद्धान्तों से गिरे तो यह शिक्षा भी भुला दी और "जपुजी साहिब" को संस्कृत मन्त्रों की तरह बिना समझे ही रटने लग पड़े। इस को पौड़िए (पदों) के भाव वा पारस्परिक सम्बन्ध की ओर ध्यान देने के स्थान में कहानियां रची गई कि अमुक पौड़ी को अमुक दिशा की ओर मुख कर के इतनी बार पढ़ा जाय तो लक्ष्मी अथवा राजकन्या प्राप्त होगी। शनैः २ पढ़ने वालों का ध्यान इस वाणी के उच्च भावों से हट कर इस के केवल बाह्य अक्षरों के ऊपर ठहरने लग पड़ा और बहुत समय तक इस प्रकार करने का फल यह निकला कि वाणी समझना कठिन हो गया।

हम इस परमोत्तम और गुरुजीवन के सब से उच्च आदर्श बतलाने वाली वाणी को आंखें और हृदय दोनों को खोल कर पढ़ें, तो सत्य समझो कि परमात्मा का भेद जानने वाला सत गुरु नानक हमारे साथ आ बातें करता दिखाई

देगा और जो वाणी में "[illegible]" ज्ञान पड़ती है, फिर उसके "[illegible]" होगा॥

॥ [illegible] ॥

गुरु नानक साहिब "जपुजी" का आरम्भ सारी सृष्टि के मूल परमात्मा से करते हैं। उस का नाम सत्य बतलाते हैं। क्योंकि परमात्मा सत्य है, इसलिए "जैसा सेवै तैसा होय" के अनुसार मनुष्य के जीवन का उद्देश्य भी झूठ की भित्ति तोड़ कर सत्य होना बतलाया है। यह सत्य कैसे हो? गुरु जी लोगों की प्रचलित विधि, [illegible], ज्ञान, आशा, चातुर्य का खण्डन कर के केवल एक उपाय बतलाते हैं, वह यह कि मनुष्य उस सच्चे आत्मा के स्वामी परमात्मा की आज्ञानुसार अपना जीवन बनाए। यह आज्ञा कहाँ से मिले? यह आज्ञा हमारी हस्ती में अङ्कित है, सदा हमारे अङ्ग सङ्ग रहती है (१)। इस का अङ्ग सङ्ग होना, पृथक् २ कर के मनुष्यों को देखें तो कदाचित् शीघ्र विदित न हो सके, परन्तु यदि सृष्टि के सारे इतिहास पर एक बार दृष्टि डालें तो पता लगेगा कि आरम्भ से यह आज्ञा जीवों का जन्म उनके भाग, उन के कर्म, उन की गति बनाने में कार्य करती आई है (२)। परन्तु सारे लोग इस प्रवेश को एक सा नहीं देख सकते इस लिए लोग अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार इस के अस्तित्व को भिन्न २ रूप से वर्णन करते आए हैं। किसी ने भी पूरा पूरा कथन नहीं किया। कारण यह है कि उस के गुणों का अन्त कोई नहीं।

केवल इतना ही पता लगाना है कि जो कुछ हो रहा है, उसकी आज्ञा के बल से हो रहा है (३)। अच्छा तो फिर ऐसी आज्ञा वाले परमात्मा का प्रवेश ठीक ठीक कैसे ज्ञात हो; और उस के साथ प्रेम का सम्बन्ध कैसे गांठें? यह इस प्रकार कि उस के सच्चे नाम और बड़ाई को स्मरण करें, अर्थात् उस के गुण गाएं (४)। इस के अतिरिक्त और कोई उपाय भक्ति का नहीं है। मूर्ति पूजा कोई साधन नहीं, क्योंकि यह अपने आप से बने निराकार परमात्मा के निरञ्जन (अर्थात् भौतिक अवस्था से परे) होने के विरुद्ध है। केवल उस की सेवा करना और प्रेम से उस का गुणानुवाद करना और पूजना ही भक्ति के लिए पर्याप्त है। गाएं क्या? और सुनें क्या? गुरु की उच्चारण की हुई वाणी। गुरु का वाक्य ही सिक्ख के लिए नाद और वेद है, और उस के बिना अन्य कोई देवी देवता नहीं मानना (५)। तीर्थ-स्नान इत्यादि कर्म भी कोई साधन नहीं। क्योंकि मुख्य प्रयोजन तो परमात्मा को प्रसन्न करना है। यह कैसे हो सकता है, कि इतना बड़ा कार्य केवल एक गोता लगाने से पूरा हो जाय, जब कि हम देखते हैं, कि संसार में एक छोटी से छोटी वस्तु भी बिना यत्न पूर्वक काम करने के प्राप्त नहीं होती। इस लिए सिक्ख को चाहिए, कि झटपट वाले साधन छोड़ कर क्रियात्मक जीवन बनाए। वह गुरु की शिक्षा सुने, और परमात्मा ने उस के अन्दर जो विचार, उद्गार, चाव और अन्य कई प्रकार के अमोलक गुण भरे हैं, उन को

गुरु की शिक्षा के अनुसार ढूंडे, बढ़ावे और सफल करे (६)। इस असली पथ को छोड़ कर ऋद्धि सिद्धि वाले पथ की ओर आना व्यर्थ है, क्योंकि परमात्मा की दृष्टि में ये कुछ भी मूल्य नहीं पाती ७)।

गुरु की शिक्षा सुनने और मानने से जैसे मनुष्य का आन्तरिक जीवन ढलता है, और बनता है, उस का चित्र "सुणिए" और "मंने" की पौड़ियों में खेंचा है।

गुरु की शिक्षा का पहला प्रभाव शिष्य पर यह होगा कि परमात्मा की आज्ञा जो साकार सृष्टि में वर्तमान है तद्विषयिक ठीक ज्ञान प्राप्त होगा, और जो जो भ्रम धर्म के नाम पर योगी लोगों ने पृथ्वी, आकाश सम्बन्धी फैलाए हुए हैं। वह दूर हो जायेंगे (८)। फल यह निकलेगा कि प्रकृति में काम कर रही एक शक्ति के स्थान में जो स्मृति शास्त्र वालों ने कई प्रकार के अस्तित्व ब्रह्मा, इन्द्र और शिव इत्यादि माने हुए हैं उन में से निश्चय उड जायगा, क्योंकि सिक्ख को गुरु की शिक्षा से पता लग जायगा कि देहधारी संसार कैसे एक परमात्मा के साथ जुड़ा हुआ है और उसके हिलाने से हिलता और उस के चलाने से चलता है (९)। इस के अनन्तर सिक्ख को धार्मिक गुणों की सूझ होगी। उस को सत्यासत्य और भले बुरे की पहिचान होगी और अपनी कामनाओं पर अधिकार पाने का पता लगेगा। अन्त में उस को मन को

सब से ऊंची अवस्था (सहज) दिखाई पड़ेगी (१०)। अब तक शिक्षा व्यक्तिगत जीवन सम्बन्धी थी। इस से आगे जा कर सामाजिक जीवन के ऊँचे गुणों का वर्णन है। मनुष्य को पता लग जायगा कि यदि उस को कभी धर्म वा देश सम्बन्धी विषयों में नेता बनना पड़े तो उस के क्या २ कर्तव्य हैं (११)।

ऊपर वर्णित शिक्षा के सुनने से जो परिवर्तन होते हैं वे केवल मन, बुद्धि और विचार में होते हैं। चरित्र क्रियात्मक रूप में ढालने के लिए आवश्यक है कि गुरु की शिक्षा पर निरन्तर कार्य किया जाए। इस प्रकार करने से जो दशा परिवर्तित होती है, वह इतनी अकथनीय होती है कि वर्णन करने से पहले गुरु जी रुक जाते हैं (१२)। फिर बतलाते हैं कि गुरु की शिक्षा पर चलने से मनुष्य का आत्मा जागृत हो आता है और वह मनुष्यों के सब प्रकार के गुण अवगुण पहचान कर अपने लिए एक ऐसा मार्ग ढूंढ निकालता है जो मृत्यु की ओर नहीं ले जाता (१३)। उस मार्ग पर बेखटके चला जाता है, और क्योंकि उस ने अपने धर्म को भली प्रकार पहचान लिया होता है, इस लिए उस का आस पास की पगडण्डियों पर ध्यान नहीं जाता (१४)। अन्त में चलते २ वह अपने जीवन के लक्ष्य (मुक्ति के द्वार) पर पहुँच जाता है। इसे अपने बचाव का ही ध्यान नहीं होता परन्तु वह अपने बिगाने सब को उस ढूंढ निकाले मार्ग का पता देता और उन का उद्धार करता है (१५)।

इस प्रकार मनुष्य गुरुकी शिक्षाके अनुसार अपने जीवनको ढाल कर पंच'की पदवी पर पहुंच जाता है। उस का जीवन बड़ा प्रभावशाली हो जाता है और लोगों के लिए एक नमूने का काम देता है। जहाँ वह भक्ति कर के परमात्मा की दृष्टि में स्वीकृत होता है वहाँ वह सांसारिक कार्यों में भी भाग ले कर राज सभा आदि में अपनी दूर दर्शिता और अनुभव द्वारा शोभायमान होता है। उस का विचार इतना ठीक हो जाता है कि वह परमात्मा के चरित्र, उस की बनाई सृष्टि में वर्तमान शक्ति और रूप को मनुष्य की गणना से परे समझने लग जाता है। वह हिमालय गिरिको अंगुलियों से नापने की भूल नहीं करता। वह सदा विचारवान् हो जाता है और उस के विचार का अगुआ (गुरु) केवल परमात्मा का ध्यान होता है। अर्थात् किसी बात को यूंही किसी के कहने से नहीं मान लेता बल्कि उसके ठीक होने की अंतिम कसौटी "ध्यान" होता है जिस के साथ वह अपने भीतर ही परख लेता है कि क्या यह बात परमात्मा के अस्तित्व के अनुकूल है? परमात्मा के अस्तित्व का बड़ा गुण यह है कि उस के कारनामों का कोई अन्त नहीं। बस जहां भी (जैसे पूतना और बैल वाली कहानी) वह देखेगा कि यहाँ इस नियम का उल्लंघन है, वह झट कह देगा कि ठीक नहीं है (१६)।

इसी प्रकार धार्मिक संसार में गणना करने की जगह अच्छी बात वह होगी जो परमात्मा को भाती हो, यह

नहीं कि जो केवल वेद कहें वही स्वीकार है। कई धर्म इस लिए गिरते आए हैं कि उन में इस सिद्धान्त को नहीं माना गया। लोगों ने धार्मिक नियमों के शाब्दिक अर्थ ले कर उनके वास्तविक भाव को गँवा दिया। अनगिनत लोगों को देखते हैं कि जप, तप, पूजा, पाठ, ज्ञान चर्चा करते हैं, शास्त्रोक दान आदि देते हैं और क्षत्रिय कर्म करते हैं (१७) परन्तु फिर भी देश में मूर्खता और पाप बढ़ रहे हैं। क्या कारण है कि इतने जप, तप होने हुए भी झूठ इत्यादि कम नहीं होते, और इतने खड्ग के धनी क्षत्रियों के होते हुए भी कई लोग हमारे देश पर बलात्कार राज्य करते रहे हैं? कारण यह है कि लोगों ने इस सिद्धान्त को भुला दिया है कि नेकी केवल वह जो परमात्मा को अच्छी लगे। उस के स्थान में उन्हों ने पुण्य पाप की बाँट षट् कर्म अथवा पंच या सात विशेष गिनती के कर्मों पर की हुई है (१८) इस का फल यह निकला है कि लोग अक्षरों के दास हो गये हैं, और परमात्मा भी उन की आँख में विशेष २ अक्षरों के प्रभाव में काम करता है और विशेष २ स्थानों में रहता है। यदि उसे विशेष नामों से पुकारें (अल्लाह राम, हरि, यहोवा) तो बोलता है नहीं तो बोलता ही नहीं। उन को यह ज्ञात नहीं कि लिखने और बोलने की चाल के अनुसार हमें विशेष २ शब्द प्रयुक्त करने पड़ते हैं, क्योंकि हमारे पास अपने भावों को प्रकट करने के लिए शब्दों के अतिरिक्त और कोई शस्त्र नहीं है परन्तु परमात्मा को कोई

विशेष नाम या कोई विशेष स्थान प्रिय नहीं है। जो कुछ भी दीख रहा है, उसे प्रकट करता है, इस लिए वह उसका नाम है और कोई जगह भी उस से अप्राप्त नहीं है (१६)। इस लिए यदि मनुष्य चाहता है कि अपनी बुद्धि में से पाप धो कर निकाल ले तो उस को परमात्मा के नाम से प्यार करना चाहिए और 'पुण्य' और 'पाप' को केवल विचार के लिए दो शब्द ही नहीं मानना चाहिए, प्रत्युत उन्हें अपने चरित्र और गति बनाने वाला भी मानना चाहिए (२०)।

पापों को धोने के लिए नाम के प्यार के अतिरिक्त तीर्थ तप, दान इत्यादि अन्य कोई साधन नहीं है। नाम द्वारा क्रियात्मक प्रेम (जिस में शुभ गुण भी आ जाते हैं) पूर्णरूप से तब ही हो सकता है, जब मनुष्य अपना सारा चित्त और ध्यान परमात्मा के अर्पण कर सके, और परमात्मा के स्थान में कोई अन्य अस्तित्व उस की भक्ति को किसी बहाने से भी न खैंच सके। इस के लिए आवश्यक है कि मनुष्य की सारी विचार सम्बन्धी, कलाकौशल सम्बन्धी और धर्म सम्बन्धी इच्छाएं परमात्मा का एक ही अस्तित्व पूरी कर सके। इस लिए गुरु जी बतलाते हैं कि परमात्मा ही सत्यता का पुञ्ज है, जो हमारी ज्ञान-शक्ति की पूरी तृप्ति कर सकता है, वही सौन्दर्य का पुञ्ज है, जिस के साथ हमारे कौशल और प्रेम के भाव पूरी रीति से सन्तृप्त हो जाते हैं, और वही हमारे मन में नेकी के लिए सदा उठती उमङ्गों को पूरा कर सकता है।

इस के बिना लोगों ने परमात्मा के कर्त्ता होने के गुणों को कई अस्तित्वों पर बांटा हुआ था, सृष्टि के बनाने में कोई माया का हाथ मानता था, कोई ब्रह्म का और कोई आत्म, काम, कोई कुछ इत्यादि वाणियों का। [illegible] कर्त्ता [illegible] परमात्मा को [illegible] जाए, तब तक मनुष्य इस का ओर पूर्णरूप से [illegible] नहीं [illegible] सकता। इस [illegible] गुरु जी माया, ब्रह्म और वाणी के स्थान में केवल परमात्मा को ही सृष्टि का कर्त्ता बतलाते हैं और कहते हैं, कि वह आप ही जानता है, कि किस प्रकार और कब सृष्टि बनी है। हमें तो यही पता है, कि " वडा साहिब वडी नाई कीता जाका होवै" (२२) भाव यह कि " परमात्मा बड़ा है " भक्ति के लिए सबसे आवश्यक है, इस लिए गुरु जी अगली पाँच पौड़ियोंमें परमात्मा की बड़ाई को पृथक २ ओर से दिखलाते हैं, जिस से कि मनुष्य को निश्चय हो जाय, कि परमात्मा वास्तव में बड़ा है। पहिले साधारण प्रकार की बड़ाई बतलाते हैं, जो भौतिक-सृष्टि के विस्तार से प्रकट होती है। नीचे ऊपर जहां ध्यान दे कर देखो परमात्मा की सृष्टि ही सृष्टि फैल रही है। इस का कोई परिमाण नहीं कर सकता, और न किसी ने किया है। यद्यपि पूर्व और पश्चिम के लोग अपनी पुस्तकों में शताब्दियों तक प्रयत्न करते आए हैं (२२)। भक्तलोग भी चाहे परमात्मा की स्तुति कर के उस में लीन हो जाते हैं, फिर भी उसकी बड़ाई का अन्त नहीं पा सकते (२३)। दूर दूर विस्तृत सृष्टि

के सारे आकार की ओर ध्यान दिला कर फिर उस सृष्टि के भीतर देखने और सुनने वाली वस्तुओं की बहुलता की ओर संकेत करते हैं। हम न तो परमात्मा के बनाए कार्यों का अन्त पा सकते हैं, और न उन को बनाने के आन्तरिक-भाव को जान सकते हैं। यह बात तभी हो सकती है, जब हम परमात्मा जितने बड़े हों। परन्तु हम हैं नहीं, इस लिए हमें इतना ही पता लग सकता है कि जो कुछ हमें मिलता है, उसी की दया से मिलता है (२४)। अब तक परमात्मा की बड़ाई दोनों जगह बतलाई गई है, एक सृष्टि के अनन्त विस्तार में जिस के लिए लम्बी दृष्टि दौड़ानी पड़ती है और दूसरा सृष्टि की अनन्त वस्तुओं में जो देखने और सुनने में आती हैं और जिन के लिए गम्भीर और तीक्ष्ण दृष्टि दौड़ानी पड़ती है। अब तीसरी जगह पर उन वस्तुओं का वर्णन करते हैं, जिन के साथ मनुष्य का विशेष सम्बन्ध है वे हैं परिमाणातीत पदार्थ। पहिले खान पान के सांसारिक पदार्थ बतलाते हैं, जो न केवल सत्पुरुषों को ही मिलते हैं परन्तु कृतघ्न और मूर्खों तक को भी मिलते हैं। फिर उन पदार्थों का वर्णन करते हैं जिनको पदार्थ जानना सर्व साधारण के लिये कठिन है जैसे दुःख और भूख की मार। फिर इन सब सांसारिक पदार्थों में से सबसे ऊँचे पदार्थ स्वतन्त्रता को सम्मुख लाते हैं, जिस को पदार्थ समझना और भी कठिन है, और क्योंकि मनुष्यों को इस पदार्थ की सूझ

बहुत उन्नति के पश्चात् आती है, इस लिए इसका उल्लेख सब से पीछे आया है (२५) सांसारिक पदार्थों में परमात्मा की बड़ाई बतला कर और उन के लिए धन्यवाद की ओर प्रेर कर गुरु जी सब सात्विक और धार्मिक पदार्थ हमारे सम्मुख लाते हैं। परमात्मा ने हमें कितने अमूल्य प्यार और उन के निभाने के साधन बतलाए हैं। कितने अमूल्य उस के ईश्वरीय नियम हैं और उन के अनुसार हमारे कर्मों की जांच पड़ताल के ढंग हैं। केवल उसके नियम ही नहीं कार्य रूप में परिणित होते बल्कि जब हम तोल में कम निकलें तो कैसे उस की बख़शिश हमारी हाथ आकर पकड़ती है। उस की बड़ाई का मूल्य कौन पाए ? वह तो अकथनीय है। जितने भी बड़े पुरुष हुए हैं वा बड़े ग्रन्थ बने हैं, वे सब परमात्मा को बड़ा ही कहते आये हैं (२६) गुरु साहिब अन्त में परमात्मा की बड़ाई को दृढ़ करने के लिये हमारे नेत्रों के आगे एक अद्भुत दृश्य लाते हैं, जिस में कि सारे माननीय देवी, देवते, अवतार, महावीर, महात्मा लोग उस परमात्मा के द्वार पर हाथ जोड़ कर खड़े उस की उपमा करते दिखाई देते हैं। इस से भाव उत्पन्न होता है कि परमात्मा की कोई तुलना नहीं। सभी उस के दास हैं। केवल इसी का एक अस्तित्व सदा अटल और सदा एक सा रहने वाला है (२७) इसी बात को न जानने के कारण लोगों में भिन्न भिन्न सम्प्रदाय (२८) और रिद्धि सिद्धि की उमंग उत्पन्न होती

आई है (२६) यदि लोगों को निश्चय होता कि परमात्मा ही अपनी इच्छानुसार सारी सृष्टि को चला रहा है और उसका प्रबन्ध अटल है तो उस के स्थान म तीन देवता (ब्रह्मा, विष्णु और शिव) को वह न मानते (३० ३१) गुरु जी एक ही बड़ी श्लोक के प्रकरण को समाप्त करते हुए बड़े बल से कहते हैं कि हम ने निश्चय कर लिया है कि चाहे हमारी कितनी भी जिह्वाएं हो जाँय, हम तो केवल एक परमात्मा को ही स्मरण करेंगे। परमात्मा का स्मरण कोई झटपट वाली बात नहीं है। यह एक मार्ग है जिस की कई सीढ़िएं हैं, और जिन पर चढ़ कर ईश्वर में लीन होजाते हैं। इन सीढ़ियों को आगे चल कर गुरु जी ने "खंड" कहा है। इन का सविस्तार वर्णन करने से पहले बतलाते हैं कि चाहे मनुष्य का ढाँचा ही ऐसा बना हुआ है कि गिरी हुई अवस्था में भी जब उसे ऊंचे आदर्श की बातें सुनाई जाँए तो, उस को ज़रूर ही ऊंचा होने को उमङ्ग उत्पन्न हो आती है, परन्तु फिर भी उसे स्मरण रखना चाहिए कि जो कुछ भी उसे मिलता है परमात्मा की दया से ही मिलता है (३२) वह अपने बल से कुछ भी नहीं ले सकता (३३)।

गुरु जी अब चाल चलन की उन्नति सम्बन्धी सीढ़िएं बतलाते हैं जिन पर चढ़ कर मनुष्य अपने अस्तित्व के शिखर पर जा खड़ा होता है। पहले पहल जब मनुष्य के अन्दर आत्मिक जागृति आती है तो उस की दृष्टि प्रकृति तत्वों

और उस के प्रत्यक्ष दीखने वाले कार्यों पर पड़ती है, और जितना भी वह सूक्ष्म से सूक्ष्म देख सकं देखें उस को इस से अधिक कुछ पता नहीं लगता कि प्रकृति के सब कार्यों में एक बँधा हुआ नियम चल रहा है, वह यह कि जैसे जैसे कारण एकत्रित हों, वैसे ही कार्य्य उत्पन्न होते हैं। इस नियम को मुख्य रख कर मनुष्य जो धार्मिक नियम अपने जीवन हित बनाता है वे प्रकृति के नियम की नाईं अटल होते हैं। जहाँ तक वह सोचता है उस को यही पता लगता है कि सारा निपटारा कर्मों पर ही होगा। जो अच्छे कर्म करते हैं, उन्हें अच्छा फल मिलता है, और जो बुरे कर्म करते हैं, उन्हें बुरा फल मिलता है। इस दशा में सारा धर्म कर्त्तव्य-पालन ही दीखता है इस लिये इसे धर्म या नियम की श्रेणी कहा है (३४)

इस से आगे चलकर विचार का विभाग प्रारम्भ होता है। इस से पहिले मनुष्य को अपनी पृथ्वी कर्त्तव्य-पालन के लिये एक अन्तिम प्रतीत होती थी और इस से कुछ गिनती के तत्व काम करते दिखाई देते थे। अब ज्ञान की दृष्टि खुल जाने से इस पृथ्वी के-अतिरिक्त और कई कर्म-भूमि और उन में कई तत्व काम करते दीखने लग पड़ते हैं। मनुष्य सृष्टि में अपने वास्तविक पद की पहचान हो जाती है और वह अपने पीछे को ऐतिहासिक मनोविलासके साथ देखने लगता है। वह देखता है कि धर्म पालन का यत्न वह केवल आप ही नहीं कर रहा

बल्कि ध्रुव और बुद्ध सरीखे मनुष्य भी इसी में लगे रहे हैं। पहले धर्म करने की प्रेरणा केवल कर्तव्य के भाव से थी, जिन में बुरे परिणाम से डर कर काम करना पड़ता था। अब धर्म करना इस लिये उत्तम लगेगा कि इस से पहले बड़े बड़े महा पुरुष भी इसी मार्ग पर चलते आए हैं ॥३५॥

इस प्रकार मनुष्य को धर्म का पक्ष तो मिल गया, पर इस पर दृढ़ पांव से चलने के लिये इस पक्ष की केवल विचार सम्बन्धी बुद्धि होनी पर्याप्त नहीं इस के लिए आवश्यक है, कि मनुष्य निरन्तर उद्यम कर के अपना स्वभाव ही ऐसा बन ले कि उपकार करना उस के लिए एक साधारण कार्य हो जाए। इस विभाग का नाम उद्यम वा परिश्रम की सीढ़ी है। इस से मनुष्य की वृत्तियां, विचार और भाव ऐसे सांचे में ढल जाते हैं कि किसी के दुःख वा अन्याय को देख कर उस का हृदय स्वयं ही उपकार करने को उछल पड़ता है। मानो उस के लिए उपकार का "रूप" ही पर्याप्त आकर्षण शक्ति रखता है॥३६॥

यह सारा समारोह मनुष्य को कर्मयोग की सीढ़ी तक पहुंचाने के लिए था। वहाँ पहुंच कर भलाई की सब शक्तियं संगठित होकर मनुष्य को धर्मवीर बना देती हैं। एक परमात्मा के प्रेम को हृदय में पालते हुए वह इतना बलवान् हो जाता है कि न उसे मृत्यु प्रभावित करती है और न वह किसी धोखे में ही आता है। ऐसा परोपकारी योधा आत्मिक उन्नति के

शिखर पर जा पहुंचता है। यह अन्तिम श्रेणी सच्चे परमात्मा में लीन होने की है, और यह उस प्रश्न का उत्तर है जिस का प्रकरण "जपुजी साहिब" के आरम्भ में है, अर्थात् "किव सचिआरा होइए!" उस दशा में "जिव जिव हुकमु तिवै तिव कार होती है ॥३७॥

यह जो 'शब्द' वा आदर्श "जपुजी साहिब" ने बतलाया है इसके अनुसार जीवन निर्माण का उपाय क्या है? वह यह है कि मनुष्य संसार में रहे और दुःख क्लेश की भट्टी में ढल कर पवित्रता, धैर्य्य और प्रेम इत्यादि गुणों को क्रियात्मक रूप में सिद्ध करे। यह कोई छू मन्त्र वाली बात नहीं। जैसे पात्र चोटें खा खा कर बनता है तैसे ही मनुष्य का जीवन गुण की शिक्षा रूपी हथौड़ी से घड़ा जाता है ॥३८॥

अन्तिम श्लोक में गुरु जी मनुष्य जीवन पर स्थूल दृष्टि डालते हैं। यहां हम बालकों की तरह प्रकृति के अङ्क में रखे गए हैं, और हमारे अस्थायी जीवन के लिए पर्याप्त सुख एकत्रित किए गए हैं। परन्तु इन सुखों में हमें भूलना नहीं चाहिए कि हमारे बुरे भले कर्मों का संकलन अवश्यमेव किया जायगा। हमें यहाँ भेजे जाने का अभिप्राय यह है कि हम ऐसे कार्य्य करें कि परमात्मा हम पर प्रसन्न हो। जो इस प्रकार करते हैं वे परमात्मा के समीप पहुँचते हैं और जो ऐसा नहीं करते उन्हें दूर फेंका जाता है।

१ॐकार सतिनामु करता पुरखु निरभउ निरवैरु अकाल मूरति अजूनी सैभं गुरप्रसादि।

॥ जपु ॥

१ ॐकार से लेकर "गुरप्रसादि" तक सिक्खमत का मूल मन्त्र है अर्थात्, इस में वे बुनियादी बातें बतलाई हुई हैं, जिन पर सिक्ख धर्म के सिद्धान्तों की नीव रक्खी गई है। किसी धर्म का विस्तार और रीति नीति इसी पर निर्भर होती है, कि उस में परमात्मा का स्वरूप कैसा बतलाया गया है। यदि विचार कर देखें तो सिक्ख धर्म के जो बड़े बड़े नियम हैं, कि सब देवी देवते छोड़ कर एक परमात्मा को मानना, जीव और प्रकृति को परमात्मा के बनाये मानना, परमात्मा का अवतार धारण कर जन्म मरण के बन्धन में पड़ना न मानना, मुक्ति के लिए गुरु की बख़शिश वा दया का पात्र होना आवश्यक मानना, इन सब का मूल इसी मूल मन्त्र में है।

सिक्ख धर्म में परमात्मा को दो स्वरूपों में कथन किया गया है, एक तो अपने सम्बन्ध में आप, जो मन और वाणी से परे है और जिसे निर्गुण भी कहा गया है, और दूसरा सृष्टि के सम्बन्ध में जिसे सगुण वा "नाम" रूप करके पुकारा गया है। जब सृष्टि न बनी थी तब परमात्मा निर्गुण रूप था और जब

उसने रचना करके अपना प्रकाश किया तो सगुण रूप हो कर वर्तने लगा। इन दो स्वरूपों का वृत्त "आसा दी वार" पौड़ी पहिली में है—"आपीनै आपु साजिओ, आपीनै रचिओ नाउ"। भाई गुरुदासजी भी कहते हैं—"आपे आपु उपाइ कै आपे आपणा नाउ धराइआ"। इन ही दोनों स्वरूपों का विस्तार "सुखमनी-साहिब" की २१ वीं "अष्ट पदी" में खुले तौर पर किया हुआ है। "बावन अखरी" की पहिली पौड़ी में भी है।

निर्गुण स्वरूप का हम कोई भाव मन में नहीं बांध सकते और इस स्वरूप में हम परमात्मा के साथ कोई सम्बन्ध भी नहीं गांठ सकते। इस लिये धर्म में वास्तविक रीति पर सगुण स्वरूपसे ही काम पड़ता है। मूल मन्त्र में जो गुण परमात्मा के दिए हैं, वे उसके सगुण स्वरूप के ही हैं।

हमारे देश में सगुण स्वरूप ब्रह्म के लिए "ओ३म्" शब्द पहले ही प्रचलित था। गुरु जी के समय यह अधिकता की गई कि "ओ३म्" के स्थान "ओंकार" शब्द बनाया गया, और भाव इसका यह था। कि "वह परमात्मा जिस का प्रकाश निरन्तर

---

* गुरु वाणी में "१ॐ" को खोल कर ओंकार ही लिखा है—"ओंकारि सभ सृष्टी उपाई (मारू म० ३) भाई गुरुदास जी अपनी "वार३९"के आरम्भमें मूल मन्त्रकी आवृत्त करते हुए"ऊड़ा ओंकारलखायां" कहते हैं जिससे सिद्ध होता है कि "ॐ" को "ओंकार" कर के पढ़ना चाहिये.

होता रहे "। परन्तु पुराने पण्डितों ने इस प्रकाशमान शक्ति के कई भाग कर के ब्रह्म के भाग बनाए हुए थे, और उसे त्रिमात्रा रूप त्रिब्रह्म रूप, त्रिअक्षर रूप, त्रिज्ञान रूप, त्रिगुण रूप, त्रिकारण रूप, त्रिमुख रूप, त्रिदेवता रूप, त्रिप्रयोजन रूप, त्रिकाल रूप, त्रिलिङ्ग रूप, त्रिसंज्ञा रूप, इत्यादि मानते थे। इसलिए गुरुजी ने ओंकार के पूर्व एक अङ्क लगा कर यह नियत कर दिया कि हम परमात्मा को प्रत्येक दशा में एक ही करके मानें।

ऐसे परमात्मा का नाम " सति" (सत्य) है, अर्थात् वह सदा एक रस रहता है, और ऐसा परमार्थ सत् है जो न घटता है, न बढ़ता है, न बदलता है। परमात्मा का यही स्वरूप शुद्ध वा निष्केवल है। इसी से अन्य गुणों का विस्तार हुआ। " किरतम नाम कथे तेरे जिहवा। सतिनामु तेरा परा पूरबला"; (मारू म० ५) जपुजी साहबमें इसी स्वरूप को मुख्य रक्खा गया है।

वह सारी सृष्टि का स्रष्टा है। उस के बिना जो कुछ भी है, वह सब उसी की रचना है।

गुरु जी ने परमात्मा के लिए " पुरखु इस लिए प्रयोग

" ओ३म् " कर के नहीं। कबीर जी ने भी अपनी " बावन "अखरी" में " ओंकार" शब्दका प्रयोग किया है। ॐ को मिला कर ' एकंकार'कर के भी पाठ हो सकता है-' एकङ्कार' बसे मनि भावै'(मारू सोहले म० १)। "एकङ्कारु अवरु नहीं दूजा "(दखणी ॐकार)।

किया है कि लोग उसे केवल वैज्ञानिकों वा दार्शनिकों जैसी एक फैल रही शक्ति ही न मान लें। वह एक समर्थ और चैतन्य आस्तित्व साक्षात् है, जिस के अनुकूल हमारी छोटी छोटी सत्ताए बनाई गई हैं। इस लिए इसे भी पुरुष कहते हैं। पर जैसा कि इस मूल मन्त्र मे बतलाया है, वह सत्ता, शक्ति और स्वभाव में हम से बहुत उच्च है।

उसे किसी का भय नहीं और न किसी के साथ वह वैर रखता है।

उस का अस्तित्व,समय की मार से परे है, अर्थात, वह बाल्यावस्था, यौवन और बुढ़ापे में नहीं आता और नहीं ही मरता है।

वह जन्मता भी नहीं। फिर आया कहाँ से ? वह स्वयंभू है।

" गुरु प्रसादि " का अर्थ है, गुरु की कृपा से। यदि " गुर" और " प्रसादि " को परमात्मा के दे। पृथक् २ गुण करके लें तो कई नियमों का उल्लङ्घन करना पड़ता है। एकतो यह कि " ि" वाला " प्रसादि " कृपा वा कृपावाला के अर्थ में कभी नहीं आता। इस के साथ " ि" परिशिष्ट में दिए नियम १ [अ] के अनुसार सम्बन्ध का अर्थ रखता है,अर्थात् "प्रसादि" से भाव " परसाद द्वारा" या "कृपा से" ही हो सकता है। साथ ही यदि "प्रसादि" का भाव "कृपा वाला" हो, तो "गुरु " एक स्वतन्त्र

गुण होगा, इस लिए जैसे "नामु" "पुरखु" "निरवैरु" के अन्त में " ु " आया है, इसी प्रकार "गुर" के अन्त में " ु " चाहिए देखो परिशिष्ट, नियम १४। इस लिए "गुर" को "प्रसादि" के साथ मिलाकर सम्बन्ध कारक [मुरक्कब इज़ाफ़ी] मानना पड़ेगा और अर्थ "गुरु की कृपा द्वारा" करना पड़ेगा देखो परिशिष्ट नियम १५।

इसी प्रकार सारा मूलमन्त्र एक मङ्गलाचरण बन जाता है और अर्थ यह होता है—उस गुरु का कृपासे (आरम्भ करताहूँ) जिसके गुण "१ॐ" से लेकर "सैभं" तक दिए हैं। इन अर्थों को पुष्टि इस बात से होती है कि "श्री गुरु ग्रन्थ साहिब" में शब्दों से पहले इसी मूलमन्त्र के आरम्भ और अन्त के अक्षर लेकर "१ॐ सतिगुर प्रसादि" बनाकर मङ्गलाचरण किया है इसी प्रकार "तव प्रसादि" और "ब-फ़ज़ले अकाल" शब्द भी हैं। मुसलिम-साहित्य में "बिस मिला" का भावभी मंगलाचरण वाला ही है और शाब्दिक अर्थ "परमात्मा के नाम से" है, परन्तु मुहाविरे से यह अर्थ किया जाता है कि "परमात्मा के नाम से आरम्भ करता हूँ"।

यह मूलमन्त्र "गुरु ग्रन्थ साहिब" में बड़ी बड़ी वाणियों और "रागों" के आरम्भ में "मुखबन्ध" कर के प्रयुक्त हुआ है और इसका "जपुजी साहिब" से विशेष सम्बन्ध नहीं है। जैसे अन्यान्य "वाणियों" और "रागों" के आरम्भ में लिखा है

उसी प्रकार जपुजी साहिब के पहिले भी दिया है। वास्तव में जपुजी की वाणी "जपु" शब्दके अनन्तर प्रारम्भ होती है। और "जपु" इस का शीर्षक है। "जपु" का अर्थ है "घड़ीघड़ी. पुनः पुनः विचार करने के लिए वाणी" यहां "जपु" का अर्थ "तू जप" नहीं हो सका; क्योंकि "गुरवाणी" में जहां भी "जपि" शब्द "तूजप" के अर्थ में आया है वहां इसके "प" के साथ "ि" अवश्य ... है। और जहां "जपु" नाम करके प्रयोग किया है, वहां इसके "प" के साथ "ु" आता है, अथवा "प" होता है—"जपि जन सदा सदा दिन रैणी" (सुखमनी) "जपु तपु संजमु धरमु न कमाया" (रहु रासि)।

आदि*सचु जुगादि सचु।
है भि सचु नानक होसी भि सचु ॥१॥

---

*यहां यह भाव नहीं कि यह सच्चा परमात्मा आदि मध्य और अन्त में स्थित रहता है। प्रत्युत यह है कि आदि अन्त और मध्य सदा सर्वदा परमात्मा सत्य ही सत्य है। बल उसके सच्चा होने पर है न कि उसके सदा स्थित रहने पर। बाकी "जपुजी साहिब "में,जा इसी श्लोक का विस्तार है परमात्मा के सत्य होने पर ही बलहै। इसकी पुष्टि इस बातसे भी होतीहै कि यही श्लोक सुखमनी साहिब की१७वीं "अष्टपदी" के आरम्भ में आता है और उस"अष्टपदी"में इस श्लोककी जो व्याख्या हुई है,उसमें परमात्मा के"सत्य स्वरूप"पर बल दिया गया है। स्मरण रखना चाहिये कि "सुख-

सब से पहले, जब और कुछ भी न था, तब भी परमात्मा सत्य था। जब सृष्टि उत्पन्न हुई और समयानुसार युगों का विभाग होने लगा तब भी परमात्मा सत्य ही था। अब भी वह सत्य है, और भविष्यत् में भी वह सत्य ही रहेगा।

गुरु जी ने जपुजी के आरम्भ में सब से पूर्व अस्तित्व का वर्णन किया है और उस का स्वरूप "सचु" बतलाया है, जो परम्परा गत है। शेष "जपुजी साहिब" में इसी सत्य को समझने और अन्ततः "सच खण्ड" में उस के साथ "एक मय" होने के साधन बतलाए हैं। जब मनुष्य जीवन का उद्देश्य सच्चे परमात्मा से मिलना है तो मनुष्य को उस सच्चे परमात्मा की भांति सच्चा होने का प्रयत्न करना चाहिए—"जिस सिउ राता तैसो होवै सचे सचि समाइआ।" (श्रीराग म० ३) अगली तुकों में लोगों के किए हुए प्रयत्नों का वर्णन करके गुरु जी ठीक ठीक साधन बतलाते हैं।

भारत और यूनान आदि में जहाँ परमात्मा का स्वरूप "सत्य" माना गया है, वहाँ लोगों ने इस स्वरूप की अन्वेषणा में विचार को बहुत दौड़ाया है, यहाँ तक कि सारे जीवन का उद्देश्य ही सोच विचार बनाया और धर्म के स्थान में फिलासफी

मनी साहिब" का प्रत्येक श्लोक के अनन्तर आनेवाली 'अष्टपदी' का सारांश प्रगट करता है ॥ १ ॥

हो प्रचलित हो गई। इस लिए गुरु जी इस साधन का निषेध पहिले ही से करते हैं।

सोचै सोचि न होवई जे सोचो लख बार।

सोचने से वह सत्य स्वरूप परमात्मा समझ में नहीं आ जाता, चाहे मैं लाखों वार पुनः पुनः क्यों न सोचता रहूँ।

कई ज्ञानी बतलाते हैं कि परमात्मा हमारे मन का विषय ही नहीं। इस लिये हम उस के विषय में कुछ सोच ही नहीं सकते, केवल भाव द्वारा उसके अस्तित्व को जान सकते हैं। परन्तु यदि परीक्षा करके देखें तो भाव वा भक्ति के लिए भी तो कुछ न कुछ ज्ञान की आवश्यकता होती है। यह कभी नहीं हो सकता कि हम किसी ऐसी वस्तु से प्रेम कर सकें जिसविषयक मन में कुछ भी विचार नहीं बन्ध सकता। गुरु साहिबका भाव केवल यह है कि यद्यपि परमात्मा के विषय में कुछ थोड़ा सा ज्ञान हो सकता है, तथापि वह इतना बड़ा है और हमारी विचार शक्ति इतनी छोटी और अधूरी है कि उस के अपार स्वरूप को अपने विचार की सीमा में ला ही नहीं सकते, जब तक कि हम उस जितने बड़े न हो जाएं। तो फिर क्या सारे सोच विचार छोड़ कर मौन धारण कर लें? नहीं।

चुपै चुप न होवई जे लाइ रहा लिव तार।

चुप रहने से भी मन में नित्य प्रश्न उत्पन्न होते; नहीं समाप्त

होते, चाहे कितना भी एक टक ध्यान लगा रक्खूँ क्योंकि हम "राम का अंस" हैं, इस लिये मौनधारी होकर मन को चाहे कितना भी दमन करें कि कोई सोच न सोचें, फिर भी हमारी प्रकृति इसको स्वाभाविक रीति से दा आ आ कर उकसाएगी और कई प्रकार के प्रश्न उपस्थित करेगी।

भुखिआ भुख न उतरी जे बँना पुरीआ भार।

भूखे होने से परमात्मा के मिलने की भूख पूरी नहीं होती, चाहे सारा संसार अपने वश में कर लूं। जैसे हमारे चित्त में परमात्मा सम्बन्धी विचार उत्पन्न होने स्वाभाविक हैं, उसी प्रकार हमारे चित्त में स्वाभाविक रीति से एक ईश्वरीय भूख वर्तमान है, जिस के भाव को न समझ कर लोग कई भ्रम वाली भूखों में पड़ जाते हैं और उन्हें परमात्मा को प्रसन्न करने का साधन मानते हैं। गुरु साहिब के समय में इस भूख का शिकार कई मुसलमान राजे भी थे, जिन के हृदय में चाह थी कि किसी प्रकार देशों के देश इस्लामी पताका के नीचे लाएं और खुदा को खुश करें। इसी भूख के वेग में आ कर कितनों ने अरब से लेकर एक ओर स्पेन तक और दूसरी ओर भारत वर्ष तक सारे देश पर विजय पा ली थी। इस भूख वाला केवल खाने, पीने; और सोने वाले जीवन को त्याग कर कुछ उद्देश्य रखता है और कई प्रकार के दुःख सहन कर अपने विचार से धार्मिक भूख को शान्त करता है, पर ऐसे ढंग से

वह ईश्वरीय भूख वैसी ही बनी रहती है, कभी शान्त नहीं होती।

यहां साधारण विषय की भूख से प्रयोजन नहीं, क्योंकि इस प्रकार की भूख को लोग परमात्मा की प्राप्ति का साधन नहीं बनाते आये। इसी कठिनता से बचने के लिए कई सज्जन "पुरीआं" का अर्थ "इन्द्रियें" करते हैं।

सहस सिआणपा लख होहि त इक न चलै नालि।

चतुराईयें चाहे लाख हों उन में से एक भी सत्य तक नहीं पहुंचती। यहाँ "सिआणप" से भाव "हिकमति हुजति" है।

किव सचिआरा होईऐ किव कूड़ै तुटै पालि।

फिर सत्य मय कैसे हों? और हमारे और परमात्मा के मध्य में जो असत्य की भित्ति है वह किस प्रकार टूटे? इस का साधन केवल एक है:—

हुकमि रजाई चलणा नानक लिखिआ नालि॥ १॥

उस आज्ञा करने वाले परमात्मा की आज्ञानुसार आचरण करना। वह आज्ञा हमारे साथ ही लिखी हुई है॥

पहली तुक में बुद्धि को व्यर्थ विचारों में पड़ने से रोक दिया है। दूसरी में बुद्धि को विचारशून्य होकर केवल एकाग्रता

से वर्जित किया है। तीसरी में शुभेच्छा को वर्जित किया है और चौथी में बुद्धि को बुरे मार्ग पर चलने से हटाया है। अन्तिम तुक में बतलाया है कि धर्म एक प्रकार का जीवन व्यतीत करने का नाम है, जो परमात्मा की इच्छा के अनुकूल हो। हमारी बुद्धि, सुरति, मन और इच्छा को एक ही ओर लगाना चाहिये, वह यह है कि "हुकमु पछाणै खसम का दूजी खबर सिआनप काइ" [मारू म० १], और उस आज्ञा को जान कर उस पर आचरण करें। यह आज्ञा कहाँ से मिले? परमात्मा ने अपनी इच्छा हमारे भीतर डाल दी है। हमारे मन, हमारे तन और हमारे भाग में आरम्भ से परमात्मा ने अपनी आज्ञा अंकित की हुई है। "सिमरि गोविंदु मनि तनि धुरि लिखिआ" [गौड़ी म० ५] जन्म से ही हमारे में ईश्वरीय ज्योति और ऊंचे होने का गुण डाला जाता है। "मिलि मात पिता पिंडु कमाइआ। तिनि करतै लेखु लिखाइआ। लिखु दाति जोति वडिआई। मिलि माइआ सुरति गवाई" [मारू म० १], "बीज मन्त्र सरब को गिआन" [सुखमनी], "घटि घटि आपे हुकमि वसै" [श्रीराग म० ३]। "दिला का मालिकु करे हाकु। कुरान कतेब ते पाकु" [रामकली म० ५] मनुष्य का जीवन ही ऐसा बना है कि किसी काम के अच्छे वा बुरे होने का शीघ्र ही निर्णय करना पड़ता है, और प्रायः कार्य के शिर पर आ पड़ने पर पुस्तकें देखने अथवा भले पुरुषों की सम्मति लेने का समय

ही नहीं मिलता। इसीलिए डाक्टर के पहुंचने से पहिले फ़र्स्ट एड (First Aid) की तरह परमात्मा ने हमारे भीतर ही ऐसा प्रबन्ध किया हुआ है कि अपने अन्तःकरण द्वारा जाँच लें कि अमुका कार्य परमात्मा की आज्ञानुसार है या नहीं।

२

कई कारणों से यह आन्तरिक प्रकाश धीमा पड़ जाता है, इस लिए आज्ञा के विवेक के लिए एक और भी प्रबन्ध किया हुआ है। वह यह कि परमात्मा ने अपनी आज्ञा सारी सृष्टि में प्रचलित की हुई है "पाताल पुरीआ लोअ आकारा। तिसु विचि वरतै हुकमु करारा" [मारू म० ३], प्रकृति की प्रत्येक वस्तु और जीव में परमात्मा की आज्ञा के चिन्ह मिलते हैं। परन्तु सबसे अधिक इसका ज्ञान मनुष्य श्रेणीके सब कारणों को विचारने से मिलता है।

गुरु जी इस दूसरी पौड़ी में सृष्टि के सारे इतिहास पर दृष्टिपात करके बतलाते हैं कि आरम्भ से परमात्मा की आज्ञा सृष्टि के निर्माण, इसके जीवों की शारीरिक और आत्मिक रचना और इनकी गति बनाने में कार्य करती आई है। कैसे इस आज्ञा से स्थूल वस्तुएं आकार में आई हैं, और कैसे इस आज्ञा के प्रभाव से सदियों बाद उनमें जीव उत्पन्न होने लगे, कैसे बढ़ते बढ़ते उन जीवों में "माणस कउ प्रभि दीई वडिआई' कैसे मनुष्य में आज्ञा की ज्योति आश्रय पर विचार और

निश्चय के गुण बढ़ते गये और अन्त को उस में उत्तमता और मोचता के धार्मिक भाव उत्पन्न हो गये । "पाप पुंन तह भई कहावत" मनुष्य ने अपने आप को एक प्रधान सत्ता मान लिया और सुख दुःख को अपने अच्छे बुरे कर्मों का फल मान कर भोगने लगा । इसी आज्ञानुसार मनुष्य की गति बनी । जिसने अपने उच्च भावों पर आचरण करके परमात्मा को प्रसन्न कर लिया उसे परमात्मा की कृपादृष्टि मिली और जिसने नीच वासनाओं का अनुसरण किया, उसे पुनर्जन्म के चक्र में आना पड़ा ।

हुकमी होवनि आकार ।

"उस आज्ञा से मूर्तिमान वस्तुएं बनती हैं ।"

यह कहते ही गुरु जी के सामने सारी सृष्टि की उत्पत्ति तथा निर्माण का दृश्य आ जाता है और मन पर ऐसा विस्मय छा जाता है कि गुरु जी वर्णन करने से रुक जाते हैं और कहते हैं :—

हुकमु न कहिया जाई ।

आज्ञा कथन में नहीं आ सकती । ऐसी दशा अन्य स्थानों पर भी बतलाई है, जहाँ भाव ऐसा गूढ़ अथवा विस्मयजनक होता है कि मानवी बुद्धि को शब्दों द्वारा नहीं बतला सकते (अर्थात् शब्दों द्वारा वह भाव मनुष्य को समझा नहीं सकते) देखो पौड़ी १२ और १६ ।

हुकमी होवनि जीअ हुकमि मिलै वडिआई ।

उसी आज्ञा से जीव उत्पन्न होते हैं, और उसी आज्ञानुसार उन को ऊंची श्रेणी में पहुंच कर मनुष्य होने का पद मिलता है।

हुकमी उतमु नीचु हुकमि लिखि दुख सुख पाईअहि ।

आज्ञानुसार वह मनुष्य अच्छे बुरे स्वभाव वाले होते हैं और आज्ञानुसार लिखे हुए कर्मों पर दुःख और सुख पाते हैं।

इस तुक में मनुष्य के भले बुरे होने का मूल कारण परमात्मा की आज्ञा कहा है। भाव गुरू जी का यह है कि जो कुछ भी हम में है, वह परमात्मा से आया है। उस के बिना हम में कोई बल नहीं। "तुधु बाझु समरथ कोई नाही" (राम कली म० ३) कोई मनुष्य चाहे कितना ही बुरा हो, यह नहीं कह सकता कि मैं अपने बल द्वारा अमुक कार्य कर दिखाऊँगा। "पाप पुंन हमरै वसि नाहि" (रामकली म० ५) "बुरा भला किछु आपस ते जानिआ एई सगल विकारा। इहु फुरमाइआ खसम का होआ वरतै इहु संसारा। इन्द्री धातु सबल कहीअत है इन्द्री किसते होई। आपे खेल करै सभि करता ऐसा बूझै कोई" (मारू म० ३) "प्रति पंखेरू फिरतु साथि कय उत्तम कय नीच। कय चन्दनि कय अकि डालि कय उची परीति।

नानक हुकमि चलाइये साहिब लगो रीति" [म० १, वार माझ]।
जो कुछ होता है परमात्मा की आज्ञा के चक्र में ही होता है :—

"तूं दरिआउ सभ तुझ ही माहि" (आसा म० ४) मच्छी को इतनी स्वतन्त्रता है कि पानी के आश्रय चाहे नदी के प्रवाह के उलट दौड़ती फिरे और चाहे उस के साथ २ चले। पर हां वह नदी से बाहर नहीं रह सकती। इसी प्रकार मनुष्य चाहे परमात्मा की दी हुई बुद्धि और बल को अच्छे कार्य्यों में लगाए और चाहे बुरे कार्य्यों में, पर वह परमात्मा की आज्ञा से बाहर नहीं हो सकता।

इस से एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि मनुष्य के कार्यों का मूल कारण परमात्मा स्वयं है तो उस की बुराई भलाई का उत्तरदाता कौन है? मनुष्य स्वयं! वह इस प्रकार कि जैसे "आसा दी वार" में बतलाया है,-मनुष्य में अहङ्कार वा ममता का भाव रक्खा हुआ है, जिस के द्वारा वह सच्चा या झूठा होता है और पाप पुण्य का विचार करता है और जिस के अनुसार नरक वा स्वर्ग में वास करता है। इसी के अनुसार वह कभी हंसता है और कभी रोता है, कभी अपने आप को पाप कर्मों से लीन कर लेता है और कभी अच्छी ओर (पुण्य कर्म में) लग कर अपने आप को धोकर स्वच्छ बना लेता है। इसी ममता के भाव से मनुष्य अपनी जाति वा व्यक्ति को पहिचानता है और कई प्रकार के कार्य्यों में व्याप्त होता है।

महो तो यदि अपने पृथक् अस्तित्व का भावही मिटा दें तो फिर हममें किसी कार्य के करने की रुचि ही न रहेगी और न परमात्मा के द्वार की सूझ या उस के साथ कोई प्रेम करने का भाव ही उत्पन्न हो सकेगा। यह अहङ्कार का भाव कहाँ से उत्पन्न होता है? "हउमै एहो हुकमु है"। यह परमात्मा की आज्ञा ही है जो हमारे भीतर वर्त कर "हूं" का भाव पैदा करती है, जो हमें आवागमन के चक्र में फिराती है इस लिए यह "हूँ" एक बड़ा रोग है, परन्तु औषधि भी इसी में रक्खी हुई है, क्योंकि इसी "हूं" के भाव को जब परमात्मा की इच्छानुकूल कर दें तो इसके द्वारा पापों से हट कर भले कार्यों में लग जाते हैं। बिगड़ी हुई "मैं हूं" वाला मनुष्य अहङ्कार में आकर कई अपराध कर बैठता है, परन्तु यदि मनुष्य ईश्वरीय इच्छा को मानने वाला हो तो उस का अहङ्कार कई अपराधों से बचाता है। जैसे एक पढ़ा हुआ व्यक्ति अपने आपको कहे कि मैं पढ़ा हुआ होकर यह बुरा कार्य्य क्यों करूं? वा कुलीन व्यक्ति कहे कि मैं शिवाजी का वंशज होकर कायरता क्यों करूं? वा एक सिख कहे कि मैं दीनरक्षक गुरू का सिख होकर गरीबों को क्यों मारूँ? इन तीनों उदाहरणों में पापों से बचाने वाला भाव विद्या सम्बन्धी, कुलसम्बन्धी और धर्म सम्बन्धी अहङ्कार है॥

इसी प्रकार पाप की प्रेरणा करने के लिये हम से वाहर शैतान आदि और कोई शक्ति नहीं है। यह हमारे भीतर ही

परम आज्ञा को बिठाई हुई ममता है, जो विमुख होकर वर्त तो परमात्मा और हमारे मध्य में एक दिवार की तरह खड़ी हो जाती और कई प्रकार के पाप कराती है। परन्तु जब "किरपा करे जि आपणी ता गुर का शब्द कमाहि," तो हम गुरुमुख हो कर अपनी इच्छा परमात्मा की इच्छा के साथ मिला देते हैं, और फिर जो कुछ परमात्मा चाहता है, वही हम से होता है।

परमात्मा ने हमें इस प्रकार का अहङ्कार क्यों दिया जो कि हमें कई बार पाप के गढ़े में फैंकता है? यह भी उसकी एक कृपा है, क्योंकि यदि यह अहङ्कार की स्वतन्त्रता न होती तो मानुषिक आचरण की उन्नति असम्भव हो जाती। उस दशा में बुराई करना असम्भव होता, पर साथ ही भला करना भी असम्भव हो जाता। यदि मनुष्य को भले व बुरे कार्य्यों के निर्वाचन की स्वतन्त्रता न दी होती तो वह केवलमात्र यन्त्र ही होता और उसके लिए ऊँचे नीचे होना असम्भव हो जाता और न वह उन सीढ़ियों पर चढ़ कर अपने चरित्र का ही संगठन कर सकता जिसका उल्लेख "सुणिऐ" "मंनै" और "खंडां" वाली पौड़ियों में किया हुआ है।

हमें इस स्वतन्त्रता का इसी प्रकार आदर करना चाहिये, जिस प्रकार किसी अन्य प्रकार की स्वतन्त्रता का आदर करते हैं। बालक ज्यों ज्यों बढ़ता है, त्यों त्यों उसके भीतर

इस स्वतन्त्रता की आशा बढ़ती जाती है कि मेरी अलमारी पृथक् हो जिस में मैं अपनी पुस्तकें, लिखने पढ़ने और खेलनेकी सामग्री रख सकूं और उन्हें अपने आप संभाल कर रक्खूं। उसे ज्ञात है कि यदि वही वस्तुएं उस की मां के प्रबन्ध में हों तो दरी पर दवातें कम गिरें, पुस्तकें कम फटें और चित्र बहुत सुरक्षित रहें। पर फिर भी उसे इनके बिगाड़ने सुधारने की स्वतन्त्रता अच्छी लगती है, और योग्य माता पिता इस स्वतन्त्रता को उसके लिये गुणदायक समझते हैं, क्योंकि इसके बिना उसका आचरण नहीं बन सकता, चाहे उसके बिगड़ने सुधरने में हाथ उनका भी होता है।

यह तो हुई व्यक्तिगत स्वतन्त्रता। अब समष्टिगत स्वतन्त्रता को लीजिये। क्या म्युनिसिपल स्वतन्त्रता हमारे लिए अच्छी नहीं? इस म्युनिसिपल स्वतन्त्रता का भाव तो यही है न, कि हम अपने नगर की आबादी के मामले आपस में मिल कर जिस प्रकार चाहें भली बुरी प्रकार स्वयं निपट लिया करें? हम जानते हैं कि यदि यही प्रबन्ध केवल सरकार के हाथ में होता तो नगर की स्वच्छता और प्रकाश इत्यादि के विषय में नित्यक्षुब्ध न होना पड़ता कि अमुक मेम्बर ने अपने दर्वाजे के आगे लैम्प वा नल लगवा लिया है और शेष मुहल्लों की ओर कुछ ध्यान नहीं दिया वा अमुक गली में किसी मेम्बर का काम न होने के कारण कूड़े के ढेर के

ढेर लगे रहते हैं। और कोई निष्पक्ष स्वच्छता नहीं होती। परन्तु इन अनिष्टापत्तियों के होते हुए भी हम यह समझते हैं कि यह भूल का संशोधन करने का अधिकार एक बड़ी सौगात है, क्योंकि हम जानते हैं कि इसी स्वतन्त्रता के कारण गिर गिर कर सवार होते हैं, इसी कारण हम में उत्तरदायित्व की बुद्धि आती है और जातीय आचरण बनता है। जैसे म्यूनिसिपल कमिटी में दी हुई स्वतन्त्रता से चलने पर भी कार्यों का आरम्भ और प्राण सरकार स्वयं है जिस ने यह दी है, इसी प्रकार हमारी "मैं हूं" को कुछ सीमा पर्यन्त स्वतन्त्रता देने पर भी हम में आचरण का मूल कारण परमात्मा स्वयं है। जैसे म्यु० कमेटी की शक्ति सरकार की ओर से होते हुए भी अपने हिसाब किताब, स्वच्छता और प्रकाश सम्बन्धी भूलों की उत्तरदात्री कमिटी स्वयं है, वैसे ही यद्यपि हमारे विचारों और कार्यों का मूल आधार परमात्मा स्वयं है, तथापि जो भूलें हम से होती हैं उनका उत्तरदायित्व हम पर ही है।

इकना हुकमी बखसीस इकि हुकमी सदा भवाईअहि।

आज्ञा द्वारा ही कितनों को मुक्ति की दया हो जाती है और कई सदा योनियों में फिराए जाते हैं। "इकि भरमि भूले फिरहि दहदिसि, इकि नामि लागि सवारीआ" [अनन्दु, म० ३]

हुकमै अन्दरि सभु को बाहरि हुकम न कोइ

प्रत्येक उसकी आज्ञा में है। कुछ भी उसकी आज्ञा के चक्र से बाहर नहीं हो रहा।

नानक हुकमै जे बुझै त हउमै कहै न कोई ॥२॥

गुरु नानक जी कहते हैं कि यदि कोई इस आज्ञा के बर्ताव को समझ ले तो फिर वह कभी नहीं कह सका कि अमुक बात मैंने स्वयँ की है॥

३

बतलाया गया है कि परमात्मा की आज्ञा मनुष्य के हृदय में और प्रकृति के अन्दर काम कर रही है। परन्तु सारे लोग इस प्रवेश को एक जैसा नहीं देख सकते; चाहे लोगों ने इस यत्न में लगे अपनी २ बुद्धि के अनुसार उसके अस्तित्व के कुछ कुछ दृश्य दिखाये हैं। वह सारा तो वर्णन नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसमें अगणित गुण हैं और प्रत्येक गुण अनन्त है। उदाहरण में उसके दाता होने का गुण ही लीजिये जीव संसार के आरम्भ से लेकर अब तक उसका दिया खाते आए हैं। पर देखो उसका भण्डार समाप्त नहीं होता।

गावै को ताणु होवै किसै ताणु।

यदि किसी को परमात्मा से शक्ति मिली होती है, तो वह परमात्मा की शक्ति के राग अलापता है। बल वाले लोग

परमात्मा के बल वाला होने पर ज़ोर देते हैं, और कोमल वा दुर्बल अभाव वाले लोग उसके हाथ में बाँसुरी और कमल देते हैं।

गावै को दाति जाणै नीसाणु ।

कोई परमात्मा की दी हुई वस्तुओं को उसके चिह्न समझ कर गाता है।

गावै को गुण वडिआईआ चार ।

कोई उसके लक्षण और सुन्दर २ बड़ाइयों का गायन करता है। परमात्मा के गुणों से उसके सत्य-स्वरूप, सृष्टि-कर्ता, गुरु आदि होने के साधारण लक्षण हैं। और बड़ाइयों से भाव उस के विशेष गुण हैं जिन से उसका महत्व प्रकट होता है; जैसे कि वह पापियों को भी क्षमा कर देता है, तुच्छ और बे-समझ लोगोंको भी आजीविका पहुंचाता है। गुणों का सम्बन्ध विचार से है और बड़ाइयों का सम्बन्ध धैर्य और प्रेम के साथ है।

गावै को विदिआ विखमु वीचारु

कोई उसे विद्या द्वारा गाता है, जिस का समझना ही कठिन होताहै। जैसे न्याय, सांख्य, वेदान्त इत्यादि दर्शनशास्त्र।

गावै को साजि करे तनु खेह ।

कोई परमात्मा को यह समझ कर सराहता है कि वह शरीरों को बना कर फिर उन्हें मट्टी कर देता है। जैसे मुसलमान, क्रिश्चियन इत्यादि जो आवागमन पर विश्वास नहीं रखते।

गावै को जीअ लै फिरि देह।

और कोई यह समझ कर गा रहा है कि परमात्मा प्राण लेकर फिर दे देता है। अर्थात् आत्मा को एक योनि से दूसरी योनि में ले जाता है। यह उनकी ओर संकेत है, जो पुनर्जन्म के सिद्धान्त को मानते हैं।

गावै को जापै दिसै दूरि।

गावै को वेखै हादरा हदूरि।

कोई यह कह रहा है कि हमें परमात्मा बहुत दूर प्रतीत होता वा दीखता है, और कोई उसे अपने सामने अत्यन्त निकट देख कर गा रहा है।

कथना कथी न आवै तोटि।

कथि कथि कथी कोटी कोटि कोटि।

उसके गुणों की कथा कहते हुए समाप्त नहीं होती, चाहे करोड़ों ही लोगों ने कह कह कर फिर कही है।

उदाहरण मात्र के लिए यदि उसके दाता होने का गुण ही लें तो देखेंगे कि: -

देदा दे लैदे थकि पाहि ।

वह देने वाला तो दिए जाता है; पर लेने वाला ही थक जाता है ।

जुगा जुगंतरि खाही खाहि ।

युग युगान्तरों में खाते ही आए हैं । युगान्तर का अर्थ है, युग परिवर्त्तन । भाव यह है कि परमात्मा ने देने का कार्य्य अभी ही नहीं पकड़ा, पीछेभी जब से सृष्टि बनी है, तब से ही जीव उसके दिए पदार्थ खाते आए हैं ।

हुकमी हुकमु चलाए राहु ।

आज्ञा करने वाले की आज्ञा यह कार्य्यवाही चला रही है । यहाँ "हुकम" का अर्थ "आज्ञा में" या "आज्ञानुसार" नहीं हो सका, क्योंकि इसके अन्त में " ि " नहीं । देखो परिशिष्ट नियम १ [अ] ।

नानक विगसै बेपरवाहु ॥३॥

गुरु नानक साहिब कहते हैं कि वह बेपरवाह स्वयं सदा आनन्द में रहता है । कई सम्प्रदायों में माना गया है कि परमात्मा अपनी रचना का कार्य्य करके थक गया और एक दिन काम से निपट कर विश्राम के लिए छुट्टी मनाई । और कई सम्प्रदायों में बतलाया गया है कि परमात्मा कई बार अपने बनाए जीवों के चरित्र पर क्रुद्ध हो कर बदला लेने लग

पड़ता है। पर गुरु जी बतलाते हैं कि वह न थकने वाला परमात्मा इतने संसार की देख-भाल करने पर भी सदा प्रफुल्लित रहता है, और नीच कृतघ्न जीवों की न परवाह करता हुआ सब का समान पालन करता है।

४

" इस पौड़ी की पहिली दोनों तुकों में, "जपुजी" साहिब" के आरम्भ से लेकर अब तक का संक्षिप्त मात्र दिया हुआ है। यहां तक तो यह पता लगा कि परमात्मा सत्य है, उस का स्वरूप भी सत्य ही है। और उसके कथन करने के अनेक ढङ्ग हैं। पर कोई ढङ्ग भी उसे पूर्णतया बतला नहीं सका। साथ ही यह भी पता लगा कि जब जीव पदार्थ मांगते हैं, तो वह दाता अवश्य देता है। अब आप वह ढङ्ग बतलाइये, जिस से उस के प्रकाश को प्रत्यक्ष देख सकें, और उसके साथ प्रेम का सम्बन्ध जोड़ सकें। क्योंकि आप ने उस के दाता होने का पक्का चिह्न बतला दिया है, इस लिए हमें दृढ़ आशा बँध गई है कि जब हम प्रेम के लिए प्रार्थना करेंगे तो अवश्य ही पूर्ण होगी। पर हमें प्रार्थना करने का ढंग भी तो बतलाइये लोगों ने यह बात फैलाई हुई है कि परमात्मा को बुलाने के लिए निश्चित पाठ और मन्त्र हैं, यदि वह पाठ ठीक भाषा और मुहाविरे से न प्रयोग किया जाय तो वह बोलता नहीं, और न प्रत्यक्ष होता है।

गुरु जी उत्तर में केवल एक ही साधन बतलाते हैं, और वह यह कि सत्य नाम और उस की बड़ाई को स्मरण करो; अर्थात् उसका गुण कीर्तन करो। "गुण कहि गुणी समाविणा" (माझ म० ३)। "देत दरसन स्रवन हरि जसु रसन नाम उचार" (गूजरी म० ५)। इसी के साथ आचरण भी शुद्ध रखना पड़ेगा और इसी से परमात्मा की प्रसन्नता प्राप्त होगी, जो मुक्ति देने वाली है। यदि नाम को छोड़कर केवल कर्मों के पीछे लगे रहे तो अधिक से अधिक एक अच्छा जन्म प्राप्त कर लेंगे। परन्तु यदि मुक्त होना चाहें तो गुण गाकर परमात्मा की कृपा का पात्र होना आवश्यक है।

साचा साहिबु साचु नाइ भाखिआ भाउ अपारु।

(हमने यह सुन लिया है कि) वह प्रभु सत्य है, उस का नाम भी सत्य है, और उसे कथन करने के कई ढंग हैं; अर्थात् उसका कई भावों से वर्णन किया जाता है, जैसा कि पिछली पैड़ी में बतलाया गया है। और हमने भी सुन लिया है कि:—

आखहि मंगहि देहि देहि दाति करे दातारु।

जीव कहते हैं और मांगते हैं कि, हे प्रभो! हमें दे अवश्य दे, तो वह दाता उन्हें देता है।

फेरि कि अगे रखीऐ जितु दिसै दरबारु ।

अच्छा, फिर बताओ कि क्या उसके आगे पेश करें जिस से उसका दरबार दीख पड़े अर्थात् उसकी प्रसन्नता आज्ञा साक्षात् दृष्टिगोचर हो जाय ?

मुहौ कि बोलणु बोलीऐ जितु सुणि धरे पिआरु

और मुख से क्या बात कहें, जिसे सुन कर वह हम से प्रेम करे ? उत्तर—

अंम्रित वेला सचु नाउ वडिआई वीचारु ।

प्रातःकाल, जो बड़ा आनन्ददायक होता है, सत्य नाम को और उस के उच्च गुणों को विचारो, अर्थात् परमात्मा के गुणों का स्मरण करो, उन्हें गायन करो और पढ़ो, "कवन रूपु तेरा आराधन ॥ कवन जोग काइआ ले साधउ॥१॥ कवन गुनु जो तुझू, लै गावउ ॥ कवन बोल पारब्रह्म रीझावउ ॥१॥ रहाउ ॥ कवन सु पूजा तेरी करउ ॥ कवन सु बिधि जितु भव जल तरउ ॥२॥ कवन तपु जितु तपीआ होइ ॥ कवनु सु नामु हउमै मलु खोइ॥३॥ गुण पूजा गिआन धिआन नानक सगल घाल॥जिसु करि किरपा सतिगुरु मिलै दइआल"॥[गउड़ीमं० ५]

परमात्मा के गुण गायन करने के लिए प्रत्येक समय अमृत है, परन्तु प्रभात का समय इसलिए कहा है कि [जैसा कि भूमिका में बतलाया है] उस समय में एक विशेष रस

होता है, जिस से मन पर ठीक प्रभाव पड़ता है। इसलिए सिक्खों में एक पहिर रात रहते जागना प्रचलित है। "चउथै पहरि सबाह कै सुरतिआ उपजै चाउ। तिना दरिआवा सिउ दोसती मनि मुखि सचा नाउ ॥ ओथै अम्रितु वंडीऐ करमी होइ पसाउ" (म० २, वार माझ म० १)। और देखो भाई गुरदास जी, "वार" ६ (३) और १२ (२)। "अमृत वेले" के स्थान में "अमृत वेला" भाई गुरदास जी ने "वार" ७ (२०) और ११ (२) में प्रयोग किया है।

करमीआवै कपड़ा नदरी मोखु दुआरु।

कर्मानुसार शरीर (जामा) बदल लिया जाता है, परन्तु मुक्ति का द्वार परमात्मा की दया से ही मिलता हैं।

नानक एवै जाणीऐ सभु आपे सचिआरु ॥४॥

नानक जी कहते हैं कि यूं ही जाना जाता है कि वह सच्चा प्रभु स्वयं ही सब कुछ है। उसके बिना और कोई शक्ति समर्थ नहीं। मनुष्य ने जो दरबार देखने की इच्छा की थी; उसे श्लाघ्य जीवन बनाने से यही विदित होगा कि सर्वत्र एक प्रभु का ही पसार है, वही सब कार्य चला रहा है, वही सब को देता है, और सभी उसके द्वार के भिक्षुक हैं "इक दाता सभि मंगते फिरि देखहि आकारु। नानक एवै जाणीऐ जीवै देवण हारु" (म० १, वार सारंग म० ४) यही भाव अगली पौड़ी के अन्त में है।

(५)

अब तक यही बतलाया गया है कि हम ने सत्य स्वरूप को मिलना है, जिस के लिए आवश्यक है कि उस की आज्ञा नुसार आचरण किया जाय। आज्ञा कहाँ से मिले? वह आज्ञा हमारे भीतर और प्रकृति में वर्त रही है। इन दोनों स्थानों में आज्ञा के प्रवेश को साधारण मनुष्य नहीं देख सका। इस लिए चाहे अपनी अपनी पहुंच के अनुसार लोगों ने बहुत खोज की है, पर उस का स्वरूप ठीक ठीक किसी ने नहीं बतलाया। गुरु जी फिर अपनी ओर से वह यत्न बतलाते हैं, जिस से उस प्रकाश को न केवल देख ही सकें, वरन् उस से प्रेम भी कर सकें। वह साधन केवल एक है—सत्य की प्रशंसा करना।

अब पांचवी पौड़ी में बतलाते हैं कि केवल नाम की ही पूजा प्रमाण है, अन्य मूर्ति पूजा आदि कुछ नहीं क्योंकि यह बेअन्त परमात्मा के अजन्मा, स्वयम्भू और निरञ्जन होने के विरुद्ध है :—"नाउ पूजीऐ नाउ मंनीऐ अउखड सदा सचु सोइ" (स्री राग म० १) इस पूजा के करने के लिए किसी विशेष पुजारी आदि की आवश्यकता नहीं। जो कोई परमात्मा की सेवा करे वही स्वीकृत है। इस नाम की पूजा का स्वरूप क्या है अर्थात् यह जो बतलाया गया है कि नाम की बड़ाई करो उसके गुण गाओ सो इसका मतलब क्या है? गुरु जी स्पष्ट बतलाते हैं कि भाव यह है कि गुरु की बाणी ही प्रेम से

सुनो और गुण गाओ ।

"वाहिगुरु सालाहणा गुरु शब्द अलाए" (भाई गुरदास "वार " ६) यही नाद है और यही वेद है । जैसे सारे मन्त्रों और धार्मिक पुस्तकों के स्थान में गुरु वाणी पर्य्याप्त है वैसे ही सब देवी देवताओं की जगह गुरु ही पर्याप्त है क्योंकि उस की रसना में परमात्मा बस रहा है । आगे बतलाया था कि परमात्मा जीव और प्रकृति दोनों में बस रहा है। पर उन दोनों स्थानों में परमात्मा का वास ढूंड निकालना साधारण मनुष्य के लिए कठिन था इस लिए "प्रभु जी बसहि साध की रसना" अनुसार परमात्मा का निवास का तीसरा स्थान गुरु की वाणी बतलाया है । जहां प्रत्येक परमात्मा को ढूंडने वाला पहुंच सका है । "किउकरि वेखा किउ सालाही" का साधा उत्तर यह है "गुर परसादी सबदि सलाही" (माझ म० ३) गुरुजी अपने शब्द द्वारा ऐसा पूर्ण ज्ञान दे देंगे कि चाहे उस को हम भली प्रकार वर्णन न कर सकें फिर भी हमें परमात्मा में दृढ़ निश्चय हो जायगा ।

थापिआ न जाइ कीता न होइ ।

परमात्मा न किसी के बनाने से, बनाया जाता है और

न उसे कोई किसी स्थान पर टिका सका है, अर्थात् परमात्मा का ऐसा अस्तित्व नहीं कि उसे एक मूर्ति के आकार में घड़ लें और फिर उसे किसी मन्दिर में स्थापित करलें, क्योंकि वह—

आपे आपि निरंजनु सोइ ।

वह अपने आप से ही है और माया के बन्धन से परे है। वह किसी पदार्थ से कैसे बन सकता है ?

जिनि सेविआ तिनि पाइआ मानु ।

जिस किसी ने उस को सेवा पूजा की है, उसे बड़ाई मिल गई है। किसी ब्राह्मण आदि विशेष पुजारी श्रेणी की आवश्यकता नहीं। प्रत्येक व्यक्ति, चाहे किसी जाति, धर्म वा देश का हो, अपने आप ही परमात्मा की पूजा कर के उस का पुजारी होने का मान प्राप्त कर सका है।

इस लिए हमें चाहिये कि—

नानक गावीऐ गुणी निधानु ।

हे नानक ! उस गुण निधान की प्रशंसा कीजिए।

गावीऐ सुणीऐ मनि रखीए भाउ ।

उस का गुणावाद करना और सुनना चाहिए और हृदय से स्नेह करना चाहिए।

इस प्रकार करने से—

दुखु परहरि सुखु घरि लै जाइ।

वह परमात्मा हमारे कष्ट दूर कर के हमें सुखमयी दशा में ले आयगा।

गुरमुखिनादंगुरमुखिवेदंगुरमुखिरहिआसमाई।

गुरु की वाणी ही शब्द है और गुरु की वाणी ही वेद है, क्योंकि गुरु की रसना में स्वयं भगवान वास करते हैं।

संसार में दो प्रकारके मत हैं-एक नादी और दूसरे वेदी। वेदी वे हैं जो किसी धार्मिक पुस्तक के आधार पर चलते हैं; जैसे वेद कुरान अँजील इत्यादि को मानने वाले, जिन्हें "अहिले किताब" भी कह सकते हैं। नादी वे हैं जो किसी एक शब्द वा मन्त्र को मान कर उसे सुनते हैं, जपते हैं, वह कान में फूंकते हैं। यह नाद का बजाना, सुनना सुनाना योगियों में बहुत प्रचलित था। अब भी राधा स्वामी आदि कई मत इसी में श्रद्धा रखते हैं। गुरुजी नाद और वेद दोनों के स्थान में गुरु वाणी ही बतलाते हैं "सभि नाद बेद गुरबाणी। मनु राता सारिग पाणी" (राम कली म० १) और देखो भाई गुरदास, वार १९ (२०)

गुरु ईसरु गुरु गोरखु बरमा गुरुपारबती माई।

गुरु ही शिव हैं, गुरु ही विष्णु (पृथ्वी, की रक्षा करने वाला) है, गुरु ही ब्रह्मा है गुरु पार्वती (शिवजी की धर्मपत्नी) और गुरु ही लक्ष्मी (विष्णु की अर्धांङ्गिनी) है।

अर्थात् इन देवी देवताओं के गुरु के जीवन को ही एक आदर्श जीवन मानना चाहिए। " देवी देव न सेवका शंत न मंत न फुरण विचारे। वेद कतेबां अगघात पूरे सतिगुरु सबिद सवारे। गुरमुखि पंथ सुहावड़ा धन्न गुरु धन्न गुरु पिआरे "।
(भ॰ गुरदास)।

जे हउ जाणा आखा नाही कहणा कथनु न जाई

यदि मैं (ऐसे गुरु और उन की वाणी से) भगवान के प्रकाश को जान लूं तो बोलकर बतला नहीं सका क्योंकि वह अकथनीय है। हमारे पास उस भाव को प्रकट करने के लिए शब्द नहीं हैं। " कुदरति है कीमति नही पाइ। जा कीमति पाइ त कही न जाइ !" (श्री राम म० १)।

गुर इक देहि बुझाई। सभना जीआ का इकु दाता सो मैं विसरि न जाई ॥५॥

परन्तु गुरु जी ने मुझे एक बार समझा दिया है कि प्रत्येक जीव को देने वाला केवल एक परमात्मा ही है और मुझे वह कभी नहीं भूलना चाहिए।

६

यह ज्ञात हो गया कि परमात्मा की आज्ञा ढूंढने और उनकी प्रसन्नता प्राप्त करने का साधन एक नाम वा गुरु का

शब्द है, मूर्ति पूजा व देव पूजा नहीं। अब बतलाते हैं कि तीर्थ स्नान आदि कर्म भी कोई साधन नहीं—

हरि बिनु अवरि क्रिआ बिरथे। जप तप संजम कर्म कमाणे इहि और मूसे ॥१॥रहाउ॥ बरत नेम संजम महि रहता तिनका आढु न पाइआ। आगै चलणु ओरु है भाई ऊहा कामि न आइआ ॥१॥ तीर्थ नाइ अरु धरनी भ्रमता आगै ठउर न पावै। ऊहा कामि न आवै इह बिधि ओहु लोग नहीं पतीआवै ॥२॥ चतुर बेद मुख बचनी उचरै आगै महलु न पाइऐ। बूझै नाहीं ऐकु सुधाखरु ओहु सगली झाख झखाईऐ ॥३॥ नानक कहतो इहु बीचारा जि कमावै सु पारगरामी। गुरु सेवहु अरु नामु धिआवहु तिआगहु मनहु गुमानी ॥ (गउड़ी म० ५)।

गुरु के शब्द का स्मरण ही पूर्ण साधन है। इसी से जो भान्ति २ के गुणों के गुह्य रत्न हमारे अन्दर भगवान् ने डाले हैं, वे मिलते हैं और हमारे जीवन को प्रफुल्लित करते हैं। जैसे गुरु के उपदेश द्वारा मनुष्य में गुण प्रकट होते हैं, और उसका आचरण बनता है, उसका नकशा "सुनियै" और "मनै" की पौड़ियों में दिया है।

तीर्थि नावा जे तिसु भावा
विणु भाणे कि नाइ करी।

मैं तीर्थ पर जाकर स्नान तो तब करूं, जब ऐसे करने से

परमात्मा को प्रसन्न कर सकूँ। पर यदि इस प्रकार परमात्मा प्रसन्न नहीं होता, तो मैं ने स्नान करके क्या करना है ? वास्तविक मनोरथ तो परमात्मा की प्रसन्नता प्राप्त करना है। यदि किसी कर्म से यह सिद्ध नहीं होता तो उसका करना ही व्यर्थ है। तनिक विचारो तो, क्या राम बच्चा है, कि जो हमारे एक स्थान में ही डुबकी लगाने से प्रसन्न हो जायेगा ? इतना बड़ा कार्य्य कैसे एक तुच्छ से साधन द्वारा पूरा हो सकता है ?

जेती सिरठि उपाई वेखा
विणु कर्मा कि मिलै लई।

जितनी सृष्टि उत्पन्न की हुई देखता हूँ, उसमें बिना कार्य्य किये क्या मिलता है जो मैं लूँ ? अर्थात् छोटी से छोटी वस्तु प्राप्त करने के लिए भी अमली यत्न करना पड़ता है, तो यह कैसे हो सकता है, कि परमात्मा को प्रसन्न करने जैसा कठिन कार्य यूँ ही बिना किसी क्रियात्मक-जीवन-सुधार के हो जाय ? इस लिए गुरु जी बतलाते हैं कि ऐसे तत्कालिक साधनों को छोड़ कर गुरु की शिक्षा लीजिये, और उसके अनुसार जीवन बनाइये।

मति विचि रतन जवाहर माणिक
जे इक गुर की सिख सुणी।

यदि केवल गुरु का उपदेश सुनोगे, तो तुम्हारी समझ में से ही हीरे और मोतियों जैसे गुण प्रकट हो पड़ेंगे। "इहु सरीरु सभु धरमु है जिसु अन्दरि सचे की विचि जोति। गुहज रतन विचि लुकि रहे कोई गुरमुखि सेवकु कढै खोति॥" [वार गौड़ी म ४]।

तीर्थों और रत्नों का विशेष सम्बन्ध माना गया है। "गावनि रतन उपाए तेरे अठिसठि तीर्थ नाले।" इस लिए जब "तीर्थ पूरा सतिगुरु" है, तो इस अलङ्कार अनुसार रत्न के वह गुण हैं, जो गुरु की शिक्षा द्वारा सिक्ख के भीतर उत्पन्न होते हैं। "जै कारणि तटि तीरथि जाही। रतन पदारथ घट ही माही॥" [गौड़ी म० १]।

गुरा इक देहि बुझाई। सभना जीआ का इकु दाता सो मैं विसरि न जाई॥६॥

इन तुकों के अर्थ हो चुके हैं।

७

पीछे बतलाया है, कि तत्कालिक ढङ्ग छोड़कर गुरु की शिक्षा से अमली गुण प्राप्त करने चाहिये। यह अमली गुण भी वे हों; जिनसे ईश कृपा प्राप्त हो सके। ऋद्धि सिद्धि वाले गुण न हों; क्योंकि "रिधि सिधि सभु मोहु है नाम न वसै मनि आइ।" [वड हंस म० ३]।

गुरु जी को यह बतलाने की आवश्यकता इस लिए पड़ी, कि कई लोग ऐसे भी थे, जो तत्काल वाले साधन तो नहीं करते थे, पर परिश्रम से जो गुण प्राप्त करते थे, वे परमात्मा की ओर ले आने वाले नहीं होते थे। यह योगसाधन वाले लोग वर्षों तक शरीर और मन को दमन कर कर के ऋद्धि सिद्धि की शक्ति प्राप्त करते थे, जिससे कि वे अपनी आयु को दीर्घ करलें, वा और किसी विस्मय-जनक रीति से अपना नाम प्रसिद्ध करलें। परन्तु गुरु जी बतलाते हैं, कि यह आश्चर्य वाली बातें हो भी जांय, तो भी क्या हुआ? परमात्मा तो प्रसन्न न हुआ। और यदि परमात्मा प्रसन्न नहीं हुआ, तो मनुष्य का क्या सुधार हुआ? वह तो निकम्मे का निकम्मा ही रहा। इस लिए छोड़ो इस ओर को और आओ गुरु की शिक्षा में कहे गुण प्राप्त करने का यत्न करो। इस ओर आने में किसी निकम्मे से निकम्मे मनुष्य को भी निराश नहीं होना चाहिए। जिन में कुछ भी गुण नहीं है, वे गुणवान् हो जायंगे और जो पहले ही गुणी हैं, वे अपने गुण बढ़ा लेंगे। कुछ ले कर ही आओगे। देकर तो कुछ आना ही नहीं। परमात्मा के पास अपने गुण बहुत हैं, तुम से उसने क्या लेना है?

इस पौड़ी में गुरु जी ने शिष्य को आश्चर्य-जनक बातों की ओर से हटाकर गुरु-वाणी की सिद्धि की ओर लगाया है।

भाई गुरुदास जी भी बतलाते हैं कि जब गुरु नानकदेव

को योगियों ने आश्चर्य जनक कार्य दिखाने के लिए कहा, तो गुरु जी ने यही उत्तर दिया, कि जा प्रचार हम करते हैं, उस में केवल वाणी और सङ्गत के ही प्रभाव को लेते हैं, इस के अतिरिक्त हमारे पास कोई वस्तु दिखाने योग्य नहीं है।

"बाबा बोले नाथ जी असाँ वेखे जोगी वसतु न काई।
गुर संगत वाणी बिना दूजी ओट नहीं है राई॥" [वार १]

और देखा भाई गुरुदास जी की वार ५ (७)

जे जुग चारे आरजा होर दसूणी होइ।

यदि मनुष्य की आयु चारों युग जितनी दीर्घ हो जाय वा इससे भी दश गुणा बढ़ जाय—

नवा खंडा विचि जाणीऐ नालि चलै सभु कोइ

संसार के सारे भागों के लोग उसे जानते हों, और उस का इतना मान हो जाय कि जा उसको देखे उसके साथ चल पड़े।

चंगा नाउ रखाइ कै जसु कीरति जगि लेइ।

सारे संसार में लोग उसे भला कहें और उस का यश गावें।

जे तिसु नदरि न आवई त वात न पुछै के।

पर यदि वह परमात्मा की दृष्टि में नहीं आया, तो किसी ने उस की दशा भी नहीं पूछनी। अर्थात् यदि मनुष्य परमात्मा

की कृपा का भाजन नहीं बनेगा जो उसके जीवन का मुख्य प्रयोजन है, तो वह इतना निकम्मा समझा जायगा कि कोई भी उसे प्रेम नहीं करेगा।

कीटा अंदरि कीटु करि दोसी दोसु धरे।

वरन् वह कीटाधम [कीटों में भी नीच कीट] माना जायगा और अपराधी भी उसे अपराधी निश्चित करेंगे।

नानक निरगुणि गुणु करे गुणवंतिआ गुण दे।

नानक जी कहते हैं [परमात्मा ने ऐसा प्रबन्ध किया हुआ है] कि वह गुण हीन को भी गुणवान् बना देता है, और जो पहले ही गुणवान् हैं, उन्हें अधिक गुणवान बना देता है।

तेहा कोइ न सुझई जि तिसु गुणु कोइ करे।७।

परन्तु ऐसा कोई प्राणी नहीं दीखता जो परमात्मा को कोई गुण दे सके।

८

अब गुरु की शिक्षा सुनने से शिष्य पर जो प्रभाव होता है और उसमें जो परिवर्तन होते हैं, उन का सविस्तार वृत्तान्त कहते हैं। सब से पहले सिक्ख के मनमें शारीरिक और सांसारिक भ्रम दूर होते हैं। यदि विचार कर देखें तो पता लगेगा कि भूले हुए मनुष्य को धार्मिक विद्या का आरम्भ यहीं से होना आवश्यक और स्वाभाविक है, क्योंकि सारे दुःखों और पापों का मूल

प्रायः भ्रम ही होते हैं। ये भ्रम कई प्रकार के होते हैं। कुछ तो सम्मुख द्वारा गहा सृष्टि के सम्बन्ध में होते हैं, और कुछ मन और आत्मा के सम्बन्ध में। साधारणतः भौतिक संसार के विषय में बहुत भ्रम फैले हुए होते हैं क्योंकि इस के साथ मनुष्य को बहुत काम पड़ता है। साथ ही आत्मिक भ्रमों से शारीरिक संसार वाले भ्रम शीघ्र दूर हो सकते हैं, इस लिये गुरु जी ने सब से पहिले शारीरिक संसार का ही वर्णन किया है, ऐतिहासिक रीति से यह बात प्रत्यक्ष है कि गुरु नानक जी के समय योगियों का बड़ा बल था और पृथ्वी आकाश आदि के विषय में बहुत से भ्रम इन ही ने फैलाये हुए थे। ये लोग अपने भ्रमें कर्मे की सारी शक्ति इन यत्नों में ही लगा देते थे कि किस प्रकार अपने शरीर को छोटा या बड़ा कर दिखावें, वायु में उड़ सकें, पाताल से आकाश में और आकाश से पाताल में आंख के एक फेर मे जा सकें जब चाहे वर्षा ला, आंधी उत्पन्न कर सकें वा पृथ्वी में भूचाल लाकर पहाड़ों को मूल से हिला दें। सारी आयु लेनार दौड़ाने में मृगछालाओं पर बैठ कर समुद्र में भ्रमण करने में और कई प्रकार के स्वरूप परिवर्तन इत्यादि नाटक चेटक करने के यत्नों में लगा देते थे, मानो उन के लिये परमात्मा की प्रकृति का कोई नियम ही नहीं है। गुरु की शिक्षा का पहला प्रभाव यह होता है कि सिक्ख को इस प्रकार के भ्रम फैलाने वाले योगियों की वास्तविक दशा का

पता लग जाता है और उन्हें ठीक ठीक ज्ञान हो जाता है कि पृथ्वी और आकाश आदि कैसे स्थिर हैं और इन का कैसे क्रिया हो रही है। जब भ्रम दूर हो गए तो भय भी साथ ही नष्ट हो गया, क्योंकि समस्त भय का मूल भ्रम है। भ्रम के नष्ट हो जाने से पग पग पर नदियों और पर्वतों में झाड़ों और वृक्षों में जो मृत्यु भूत की नाईं छिप रही प्रतीत होती थी, उस का भय दूर हो जाता है। "जाकै बिनसिउ मन ते भरमा। ताकै कछु नाही डरु जमा" [गउड़ी म० ५] भय के दूर होजाने से शिष्य का मन सदा खिला हुआ रहता है और मन के दुर्बल होने से जो दुःख और पाप अपने आप आ सकते हैं उन से बच जाता है। "सुणिऐ" का अर्थ है गुरु की शिक्षा वा शब्द सुनने से और इस का सम्बन्ध 'जे इक गुरु का सिख सुणी' से है

। सुणिऐ सिध पीर सुरिनाथ ।

गुरु की शिक्षा सुनने से सिद्ध पीर और बड़े नाथों के विषय में पता लग जाता है, कि वे कितने पानी में हैं; अर्थात् वह कस पाप के अगुआ हैं और उनकी बातें कितनी माननीय हैं। सिद्ध, पीर और नाथ अपनी अपनी पदवी के अनुसार योगियों के गुरुओं के नाम है। "सुरि" का अर्थ है "बड़ा", "देवता" नहीं। देखो पौड़ी २६वीं की टीका—

सुणिऐ धरति धवल अकास ।

गुरु की शिक्षा सुनने से पृथ्वी, उसके नीचे खड़े कल्पित बैल और आकाश सम्बन्धी ठीक ज्ञान हो जाता है। यह ज्ञान कैसे होता है, इस का उदाहरण "जपुजी" की १६वीं पौड़ी में किया हुआ 'धवल" सम्बन्धी विचार है।

सुणिऐ दीप लोअ पाताल।

गुरु की शिक्षा सुनने से पता लग जाता है कि हमारी पृथ्वी का विभाजन कैसे द्वीपों में हुआ है और उस के ऊपर आकाश का विभाजन कैसे लोकों वा मण्डलों में है, और पृथ्वी के नीचे की सृष्टि का विभाजन कैसे पातालों में हुआ है।

सुणिऐ पोहि न सकै कालु।

गुरु की शिक्षा सुनने से मृत्यु प्रभाव नहीं जमता।

नानक भगता सदा विगासु।

सुणिऐ दूख पाप का नासु॥ ९॥

गुरु नानक जी कहते हैं कि ऐसा सुनने वाले प्रेमी सदा ही खिले रहते हैं। और सुनने से उन के मन के क्लेश और अवगुण दूर हो जाते हैं।

९

शारीरिक जगत् सम्बन्धी ठीक ठीक ज्ञान न होने से लोगों की धार्मिक बनावट पर यह प्रभाव पड़ता है कि वे देवी

देवताओं को पूजा करने लग जाते हैं। क्योंकि परमात्मा एक ऐसी सत्ता है कि प्रकृति में कार्य करता हुआ भी 'उहु वेखै ओना नदरि न आवै", इस लिए लोग होते हुए प्रकृति के कार्य देखकर चकित होते जाते है, और उत्पन्न करने वाली, पालने और फिर क्षय करने वाली एक शक्ति को बांट बांट कर कई ठांस हस्तिय मानने लग जाते है। वे देखते हैं कि वर्षा की बूंदें बादलों से गिर रही है, पर उस के पीछे एक गुप्त शक्ति के वास्तविक रूप को न पहिचानते हुए मान बैठते हैं कि उन शारीरिक स्वरूप वाली बूंदों का वर्षाने वाली कोई शारीरिक स्वरूप वाली सत्ता है, जिसे वे इन्द्र कहते हैं। इसी का वे पालने और प्रफुल्लित करने वाला देवता मानते हैं। इसी प्रकार मारने और उत्पन्न करने वाली शक्तियों को वे शिव और ब्रह्मा मानते हैं परन्तु जब मनुष्य को गुरु की शिक्षा से यह विदित हो जाय कि "जोग, जुगति तनि भेद" क्या है, अर्थात आत्मिक और शारीरिक वस्तुओं के मेल का भेद क्या है तो उसे निश्चय हो जायगा कि "जिव तिसु भावै तिवै चलावै जिव होवै फुरमाणु" केवल एक परमात्मा अपनी आज्ञानुसार सब काम चला रहा है। उस के स्थान पर "ईसरु ब्रह्मा इंदु" की स्तुति वा पूजा करना ठीक नहीं लगेगा। और न ही उन की पूजा बतलाने वाली पुस्तकों, वेद शास्त्र आदि पर विश्वास होगा।

सुणिऐ ईसरु बरमा इंदु ।
सुणिऐ मुखि सलाहण मंदु ।

गुरु की शिक्षा सुनने से शिवजी ब्रह्मा और इन्द्र की वास्तविक दशा का पता लग जाता है, और वह शिक्षा सुन कर उन देवताओं की स्तुति बुरी प्रतीत होने लगेगी।

सुणिऐ जोग जुगति तनि भेद ।

क्योंकि गुरु की शिक्षा सुनने से शरीर और परमात्मा के जुड़ने की युक्ति का भेद विदित हो जाता है। अर्थात्, इस बात का भेद मिल जाता है कि प्राकृतिक संसार के स्थूल शरीर किस प्रकार परमात्मा की सूक्ष्म सत्ता के साथ जुड़े हुए हैं और कैसे उस आत्मिक शक्ति के हिलाने से हिलते और चलाने से चलते हैं।

सुणिऐ सासत सिम्रित वेद ।

गुरु की शिक्षा सुनने से शास्त्रों स्मृतियों और वेदों की असलीयत का पता लग जाता है, कि वे कहां तक ठीक हैं। जैसे—जनमि मरै त्रै गुण हितकारु। चारे वेद कथहि आकारु। तीनि अवस्था कहहि वखिआनु। तुरीआवस्था सतिगुर ते हरि जानु" [गउड़ी म० १] ऐसी गुरु शिक्षा से इन पुस्तकों के विषय में ज्ञात हो जाता है कि इन की पहुंच कहां तक है और वे कहां तक प्रामाणिक हैं।

नानक भगता सदा विगासु ।
सुणिऐ दूख पाप का नासु ।९।

अर्थ हो चुका है ॥

१०

अब तक जो शिक्षा का प्रभाव हुआ है। उस से केवल आने वाली शिक्षा के मार्ग में से विघ्न दूर हुए हैं। इस के बाद मनुष्य सदाचार के चक्र में प्रवेश करता है। और वे गुण सीखता है जिन से चरित्र का सुसंगठन होता है। गुरु जी सारे सच्चरित्र के गुणों को तीन भागों में विभक्त करते हैं—एक सत्त गुण, जो सच्चाई से सम्बन्ध रखता है; दूसरा संतोष गुण, जो मन की वासनाओं को रोकने से सम्बन्ध रखता है; और तीसरा ज्ञान वाले गुण, जो भली बुरी, नीच ऊँच, शारीरिक आत्मिक बातों की पहचान से सम्बन्ध रखते हैं। स्मरण रखना चाहिये कि गुरु जी के बतलाए गुण, "सतु सन्तोखु, ज्ञानु" पुराने शास्त्रों के बतलाए तीन गुण, सत्व, रज, और तम के विरुद्ध हैं। सत्व के प्रति "सतु" ही दिया है, पर यह गुण धैर्य, सच्चाई, दृढ़ता आदि के कठोर अर्थ भी रखता है, जिनका सिख इतिहास साक्षी है। रज का अर्थ है, बल, सुख, बड़ाई की वासनाओं का भड़काना। इस के मुकाबिले पर गुरु जी "संतोख" (=सम् तोश) बतलाते हैं जिस का भाव अपनी

वासनाओं को संकुचित कर एक रस करना है। "तम" का भाव बेसमझी अन्धेर और पाप है। इस के उलट ः रु जो 'ज्ञान" बतलाते है, जिस से भाव नेकी, बदी, असली नकली, न्याय और अन्याय की परीक्षा है। साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिये कि गुणों की यह बांट हमारी भीतरी अवस्था के सर्वथा अनुकूल है। हमारे भीतर कुल तीन गुण हैं, एक जानने की शक्ति, दूसरे भावोद्गार और तीसरे नेकी बदी की पहिचान इन्हीं इन्द्रियों का बर्तने के लिये 'सतु", "संतोखु", और "ज्ञानु", के गुण बतलाते हैं।

जिस समय मनुष्य को इन तीन गुणों का ज्ञान हो जाता है तो फिर उसको ऐसा विश्वास हो जाता है कि तीर्थों पर भटकने की कोई आवश्यकता नहीं है। इन गुणों की प्राप्ति में वह ऊञ्ची से ऊञ्ची प्रतिष्ठा को देखता है क्योंकि यह इतनी ऊंची अवस्था है कि इस से बढ़ कर कोई पद ही नहीं दीखता। इसको 'सहजु' कहते हैं। इस अवस्था का चित्र गुरु वाणी में कई स्थानों पर खींचा हुआ है; जैसे, "त्रै गुण सभा धात है" 'त्रिह गुण विच सहज न पाइऐ' श्री राग म० ३); 'साजनु दुसटु जा कै एक समानै। जेता बोलणु तेता ज्ञानै। जेता सुणना तेता नामु। जेता पेखनु तेता धिआनु' (गउड़ी म० ५)। इस अवस्था पर पहुंचे हुए को 'ब्रह्म ज्ञानी" कहा गया है, और उस का ठीक ठीक स्वरूप 'सुखमनी'

साहब को आठवीं अष्टपदी में दर्शाया हुआ है।

सुणिऐ सतु संतोखु ज्ञानु ।

गुरु की शिक्षा सुनने से धैर्य संतोष और विचार का पता लगता है।

सुणिये अठसठि का इसनानु ।

गुरु की शिक्षा सुनना अठासठ तीर्थों पर स्नान करने के समान है, क्योंकि जिस पवित्रता का तीर्थों पर प्राप्त होना बतलाया है वह गुरु की शिक्षा से अपने आप प्राप्त हो जाती है।

सुणिऐ पड़ि पड़ि पावहि मानु ।

गुरु की शिक्षा सुनने से ज्यों ज्यों गुरु-शब्द को पढ़ेगा त्यों त्यों प्रतिष्ठा का पात्र होगा। क्योंकि 'साच शब्द बिनु पति नहीं पावे'' (सिद्ध गोष्टि)

सुणिऐ लागै सहजि धिआनु ।

गुरु की शिक्षा सुनने से पूर्ण ज्ञान वाली अवस्था का चित्र आंखों के सामने खिच जाता है। देखो 'सिद्ध गोष्ठि' ३६,४१।

नानक भगता सदा विगासु ।
सुणिऐ दूख पाप का नासु ॥१०॥

अर्थ हो चुका है।

११

अब तक व्यक्तिगत गुणों का वर्णन हुआ है। इस ग्यारहवीं "पौड़ी" में वह गुण बतलाए हैं। जिनकी आवश्यकता मनुष्य को सामाजिक चक्र में पड़ती है। मनुष्य के चाल चलन की बनावट तब तक अधूरी ही रहेगी जब तक उसको सामाजिक या जातीय गुणों की सूझ नहीं होती। सिक्ख धर्म में मनुष्य को केवल अपने आप सम्हालने का ही ढंग नहीं बतलाया गया किन्तु उसे अन्य मनुष्यों से मिलकर सम्मिलित बर्ताव को भी ऊंचा करना सिखाया है, इसी लिये सिक्ख धर्म "संगठित धर्म" है।

मनुष्य व्यक्तिगत आचरण के ऊंचे गुण प्राप्त करके सामाजिक नेता के गुण ग्रहण करता है। वे तीन प्रकार के हो सकते हैं। एक वे गुण जिनको केवल धार्मिक नेता (पीर) को आवश्यकता पड़ती है दूसरे वे गुण जिन की केवल सामाजिक नेताओं (राजाओं) को आवश्यकता पड़ती है और तीसरे वे गुण जिन की धार्मिक और सामाजिक दोनों प्रकार के संयुक्त नेताओं (शेखों) को आवश्यकता पड़ती है, इन तीनों प्रकार के गुणों से तत्पर होने वाला ऐसा उत्तम नेता होता है कि वह बहुत ही भूले हुए मनुष्यों का भी नेतृत्व ग्रहण कर सकता है क्योंकि उसे संसार के सभी विषयों का ज्ञान होता है और गहन से गहन प्रश्नों को भी गहराई तक पहुंच सकता है। वह

जाति की आवश्यकताओं, बलों और निर्बलताओं को भली प्रकार समझता है और समय की सारी कठिनाइयों का ज्ञाता होता है। अन्य लोग चाहे सब वृत्तान्तों को जानते हों और अपने सामने कठिनाइयों की धुन्ध में कुछ न देख सकें पर यह नेता सब कुछ देख कर उन्हें सन्मार्ग पर डाल सकता है।

सुणिऐ सरा गुणा के गाह।

गुरु की शिक्षा सुनने से मनुष्य सब से ऊंचे गुणों को भली प्रकार पहिचान कर लेता है। सरा गुणाँ के—गुण सिंधुओं को; मनुष्य जीवन की गहनता में वर्तने वाले गुणों का; अर्थात् नित्य के वर्तने वाले नहीं, बल्कि कठिन समय में काम आने वाले गुणों का। गाह—भली प्रकार पद-दलित किया जाता है; पूर्णतया दृढ़ किया जाता है।

सुणिऐ सेख पीर पातिसाह।

गुरु की शिक्षा सुनने से मनुष्य को पता लग जाता है कि धार्मिक सांसारिक और दोनों पक्षों का संयुक्त नेता कैसा हुआ जाता है। अरब और रूम में अब तक "शेख" की पदवी धार्मिक और सांसारिक नेतृत्व की पदवी मानी जाती है।

सुणिऐ अन्धे पावहि राहु।

गुरु की शिक्षा सुनने से मूर्ख से मूर्ख भी सीधे मार्ग पर पड़ जाते हैं।

सुणिऐ हाथ होवै असगाहु ।

उस शिक्षा के सुनने से मनुष्य गहिरे से गहिरे समुद्र को भी तह ढूंढ लेता है. अर्थात् समय की कठिन से कठिन समस्याओं को भी साध लेता है ।

नानक भगता सदा विगासु ।
सुणिऐ दूख पाप का नासु ।११।

अर्थ हो चुका है ।

१२

यहां तक गुरु की शिक्षा के सुनने का प्रभाव बतलाया गया है । यह प्रभाव सीधे तौर पर मन के ऊपर ही होता है । गुरू के पास उपस्थित होकर या संगति में जुड़ मिलकर गुरू के शब्द को पाठ, आदेश वा कीर्तन द्वारा सुनने से जो परिवर्तन होते हैं, वे यही हैं कि भ्रम दूर होकर मन देवी देवताओं की उपासना और कच्ची वाणियों को छोड़कर एक परमात्मा की शरण लगता है और उस को व्यक्ति-गत और सामाजिक कर्तव्यों को पालने के लिये इखलाकी गुणों का पता लग जाता है । जहाँ "सहज" अवस्था का वर्णन आता है, वहां यह नहीं लिखा कि वह "सहज" तक पहुंच जाता है बल्कि केवल उसे "सहज" की अवस्था का "ध्यान" हो जाता है । यदि मनुष्य "सुणन" की अवस्था से आगे न चले तो चाल चलन अधूरा

हो रहता है, क्योंकि धर्म केवल सुनने सुनाने में हो नहीं है, चाहे उन्नति के लिए इसको भो बहुत आवश्यकता है। इस लिये चाल चलन के सुसंगठन के लिये "शब्द" की क्रियात्मक अर्जन की आवश्यकता है। सच्चाई का जानना बड़ा ऊंचा है, पर उस से भो ऊंचा उस सचचाई को जीवन में वर्तना है। गुरुजी कहते हैं—"सचहु ओरे सभु को, उपरि सचु आचारु" [श्री राग म० १]। इस अर्जन द्वारा जो आचरण बनता है, उस का वर्णन "मंने" को "पौड़ियों" में किया हुआ है। यह रचना ऐसी आश्चर्य मयी होती है कि गुरु जो अपने नेत्रों के आगे उस अद्भुत झांकी को खुलता देखकर वर्णन करने में रुक जाते हैं। साथ ही वह स्मरण करते हैं कि जिन धार्मिक नेताओं ने अपनी शिक्षा के छोटे २ ब्योरे दिये हैं, उनको अपने अनुयायियों के कार्य देख कर पछताना पड़ा है। क्यों कि लोग शिक्षा के वास्तविक भाव को न समझ कर उस को छोटी घटनाओं को पकड़ बैठते हैं। इस लिये गुरु जो 'मनण' का जो प्रभाव होता है, उस की मोटी मोटी निशानियें देते हैं, कि यह न समझलें कि यह उस दशा का पूरा पूरा चित्र है। हो सकता है कि समय और स्थान की दशा के अनुसार इन के अतिरिक्त कोई और निशानियें भो हों।

मंने की गति कही न जाइ।

गुरु के शब्द पर चलने से जो अवस्था होती है उस का वर्णन नहीं कर सकते।

जे को कहै पिछै पछुताइ ।

यदि कोई वर्णन करने का प्रयत्न करे भी तो उसे पीछे लज्जित ही होना पड़ता है। क्योंकि कोई न कोई त्रुटि रह ही जाती है।

कागदि कलम न लिखणहारु ।
मंने का बहि करनि वीचारु ॥

कागज़ पर ऐसी कोई क़लम लिखने वाली नहीं, जिसके द्वारा लोग शब्द की कमाई को बैठ कर वर्णन करें। देखो परिशिष्ट, नियम १४।

ऐसा नामु निरंजनु होइ ।
जे को मंनि जाणै मनि कोइ ॥१२॥

यह पवित्र शब्द [पाक कलाम] ऐसा अकथनीय है, यदि किसी को हृदय से इसको मानने का ढंग प्राप्त हो। "निरंजनु" विशेषण है "नामु" का। यदि इसका अर्थ "निरंजन का" होता तो इसके अंत में "ु" न होता। देखो परिशिष्ट नियम १५। "मंनि जाणै" परिशिष्ट के नि० ४ वाली संयुक्त क्रिया है। और दूसरे "मनि" में नियम १ (अ) वाली सम्बन्ध की 'ि' है।

१३

तेरहवीं, चौदहवीं और पन्द्रहवीं पौड़ियों में जो अलङ्कार प्रयुक्त है, वह यूं है, कि जैसे एक मुसाफ़िर ग़ाफ़िल हो कर सोरहा होता है, और एक अन्य पुरुष, जो उस के पथ के मनोरथ मे अभिज्ञ होता है उसे आकर जगाता है। वह पथिक आंखें मलता मलता उठता है, और ज्यों ज्यों उसे सुध आती है, त्यों त्यों वह अपने आस पास के भवनों को देखता और समझता है। वह अपने नेता से पूछता है, कि इस जगह से कौन कौन से मार्ग निकलते हैं, और किस किस नदी, पहाड़ या जङ्गल में से जाना होता है। इसी तरह जब उसे सारे मार्गों की सूझ हो जाती है, तो उनमें से एक को अपने लिए चुन लेता है, जिस पर मृत्यु का कोई भय नहीं होता। उस मार्ग में बेखटके होकर चला जाता है। लुक छिप कर नहीं चलता, और न ही इधर उधर की पगडण्डियों की ओर घूमता है। वह सीधा जाता है, क्योंकि उसे पता है, कि इसी मार्ग पर चलते चलते अपने घर पहुंच जाऊंगा। अन्त को उस का मार्ग समाप्त हो जाता है, और जहां उसने पहुंचना था, वहां पहुंच जाता है, और फिर अपने परिवार और सङ्गी साथियों को भी वहां ही ले जाता है।

मंनै सुरति होवै मनि बुधि।

गुरु के शब्द पर चलने से मनुष्य की ऊंची वृत्ति जागे

उठती है, और उसके मन में उत्तम विचार उत्पन्न होजाते हैं।

मंनै सगल भवण की सुधि।

गुरु के शब्द पर चलने से मनुष्य को जीवन के सारे मण्डलों की पहिचान हो जाती है। "टोहे टाहे बहु भवन बिनु नावै सुखु नाहि।" [बावन अखरी म० ५] से भी सिद्ध होता है कि इस 'भवन" से भाव पृथ्वी आकाश के भाग नहीं, बल्कि मनुष्य-जीवन के पृथक् पृथक् मण्डल या हालात हैं, जिन में से मनुष्य को जाना पड़ता है। भाव यह है कि गुरु की शिक्षा पर चलने में सिक्ख को पता लग जाता है कि गरीबी, अमीरी; विद्या, अविद्या; सुख, दु:ख; गृहस्थ, वैराग्य; राज्य प्रबंध के शिखर पर और साधारण व्यवहार में धन कमाने के लिये क्या कठिनाइयें पड़ती हैं।

मंनै मुहि चोटा न खाइ।
मंनै जम कै साथि न जाइ॥

गुरु का शब्द मानने से मनुष्य मुंह की नहीं खाता, अर्थात् उसे दण्ड भोगना नहीं पड़ता। क्योंकि वह मनन करने से मृत्यु के मार्ग पर नहीं जाता, अर्थात् पाप युक्त पथ पर नहीं पड़ता, जो मृत्यु की ओर ले जाने वाला है।

ऐसा नामु निरंजनु होइ ।
जे को मंनि जाणै मनि कोइ ॥

अर्थ हो चुके ।

१४

मंनै मारगि ठाक न पाइ ।
मंनै पति सिउ परगटु जाइ ॥

गुरु के शब्द पर चलने से सिक्ख के मार्ग में कोई रोक नहीं रहता। बल्कि वह जगत में आदर मान से प्रसन्न हो कर चलता है। "मनै हुकमु सु परगटु जाइ। सचु न साखौ ठाक न पाइ" [आसा म० १]। "गुरमुखा ना पंथु परगटा दरि ठाक न काई पाइ" [गौ० राग म० ४]

मंनै मगु न चलै पंथु ।

शाब्दिक अर्थ - जो माने उसका मार्ग नहीं, पन्थ चलता है। भाव-गुरु का शब्द मानने से मनुष्य पग डंडी को नहीं पकड़ता, उस के लिये सिविल लाइन खुला है। साधारण और साफ़ मार्ग छोड़ कर केवल वही मनुष्य कुमार्ग पर पड़ता है, जिस का अपने कर्तव्य के साथ दृढ़ सम्बन्ध नहीं बना होता। परन्तु—

मंनै धरम सेती सनबन्धु ।

जो गुरू का शब्द मानता है, उसका तो कर्तव्य से दृढ़ सम्बन्ध हो जाता है। मानो उसके जीवन की डोरी कर्तव्य के साथ बन्ध जाती है, इस लिये वह इधर उधर नहीं डोलता।

ऐसा नामु निरंजनु होइ ।
जे को मंनि जाणै मनि कोइ ॥

अर्थ हो चुके हैं।

१५

जैसे "सुणिये" की अन्तिम पौड़ी में मनुष्य को सामाजिक नेता होने के गुण दिखाये थे, उसी तरह "मंनै" की अन्तिम पौड़ी में धार्मिक नेता होना बतलाया है।

मंनै पावहि मोख दुआरु ।

गुरू का शब्द कमाते हुए मनुष्य अन्त को मुक्ति के द्वार पर जा पहुंचता है।

मंनै परवारै साधारु ।

गुरू का शब्द मानने से मनुष्य अपने कुटुम्ब सम्बन्धियों को सुधार लेता है। "गुरमति मानिआ मोख दुआरु। नानक गुरमति मानिआ परवारै साधारु" [बिलावल म० ३]

मंनै तरै तारे गुरु सिख ।

गुरू का शब्द मानने से मनुष्य अपना उद्धार करता है और अन्य जो शिक्षा लेने आवें, उन्हें उपदेश दाता हो संसार सागर से पार उतारता है।

मंनै नानक भवहि न भिख।

हे नानक! गुरू का शब्द मानने से मनुष्य दरबदर नहीं मांगता फिरता। उसे जिस वस्तु की आवश्यकता थी; अब वह मिल गई, तो उसे इधर उधर भटकने की आवश्यकता ही क्या है? जिसको ऐसा गुरु और ऐसा शब्द मिल जाय, वह आज मुसलमान, कल हिन्दू और परसों ईसाई नहीं होता फिरता।

ऐसा नामु निरंजनु होइ।
जे को मंनि जानै मनि कोइ॥

अर्थ हो चुके हैं।

१६

यहां आ कर शिक्षा की परम्परा हो जाती है और सिक्ख गुरू के आदेशानुसार अपने जीवन को ढाल कर एक ऊंचा मनुष्य बन जाता है। वह लोगों में पंच (मुख्य) कहाता है। जिस का भाव यह है कि वह अवतारों की तरह परमात्मा की ओर से कोई स्वत्त्व विशेष या रियायत आदि लेकर पैदा नहीं हुआ होता, बल्कि साधारण लोगों की तरह मनुष्य जीवन

का साधारण मूल लेकर उत्पन्न हुआ, पर गुरु की शिक्षा से लाभ उठा कर साथ के लोगों से ऊंचा होता गया और एक आदर्श जीवन बना कर औरों के लिये एक नमूना छोड़ गया। ऐसा मनुष्य जहां परमात्मा की दृष्टि में स्वीकृत होता है, वहां मनुष्यों के भी ऊंचे से ऊंचे कार्यों में बढ़ बढ़ कर हिस्सा लेता है। वह धार्मिक बन जाने से जङ्गल को नहीं भाग जाता, ताकि एकान्त बैठकर केवल अपनी आत्मा की उन्नति करे। बल्कि आवश्यकता पड़े तो वह लोगों का पंच हो कर राज्य प्रबन्धों की कौंसिलों में जा कर अपनी उत्तम दूर दर्शिता और अनुभव भी काम में लाता है, और ऊंचे आचरण वाला होने से शोभा पाता है। जब तक उसका आचरण अधूरा था तब तक उसे लोगों से पूछ कर चलने की आवश्यकता थी। पर अब 'धरम सेती सनबन्धु' हो जाने से उसकी सोच आचार विचार इस प्रकार ढल जाते हैं कि उसे हर समय किसी बाहरी नेता से पूछने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। अब उसके विचार का नेता [गुरु] केवल परमात्मा का "ध्यान" ही होगा। जब भी कोई बात उस के सामने आवेगी वह तत्काल परमात्मा की ओर ध्यान करके पहचान लेगा कि क्या यह परमात्मा के अस्तित्व के अनुकूल है। जैसे परमात्मा की हस्ती का एक प्रसिद्ध गुण यह है कि उस के कारनामों का कोई अन्त नहीं। बस, जहां भी वह देखेगा कि यहाँ इस नियम को भंग किया

हुआ है, वह तत्काल समझ लेगा कि यह बात ठीक नहीं है।

यह साधारण असूल बतला कर गुरु जी उदाहरण के तौर पर पुराने लोगों की एक भूल का परिशोधन करते हैं। यह बात आम तौर पर मानी जाती थी, कि पृथ्वी एक नंदी (बैल) के आसरे खड़ी है। गुरु जी इस के सम्बन्ध में पहले अपना सिद्धान्त बतलाते हैं। पृथ्वी के नीचे बैल कोई नहीं है। वह तो परमात्मा की दया से उत्पन्न हुए निर्धारित नियम के आधार पर खड़ी है। भला यह कैसे हो सकता है कि एक छोटा सा नंदी इतनी बड़ी सृष्टि के बोझ को सह सके? वह बोझ भी देखो कितना है? इस पृथ्वी से परे और कई पृथ्वियें हैं। फिर वे पृथ्वियें खाली नहीं। उनमें वास करने वाले जीव कई वर्णों के हैं। और यह भी नहीं कि वह जीव एक बार ही उत्पन्न हो कर बस हो जांय। यदि यूं होता तो सारे जीवों की संख्या और उनका बोझ किसी लेखे में आ सकता। पर ये जीव तो नित्य जन्मते और बढ़ते रहते हैं। यह हिसाब तो खत्म होता ही नहीं, क्योंकि यह चलती क़लम से लिखा हुआ है। यह सारा बोझ यदि एक बैल के शिर पर धरा हुआ माना जाय तो वह कौनसी शक्ति होगी जो उस नंदी के नीचे रह कर उसे सहारा देती होगी? यदि अन्त में परमात्मा कह कर पीछा छुड़ाना है, तो पहिले ही क्यों न मान लें? वास्तव में बात यह है कि जिन लोगों ने यह कहानी घड़ी थी, या लकीर

के फ़कोर होकर अभी तक माने जाते हैं. उन्होंने परमात्मा से निकली हुई शक्ति, रूप और पदार्थों का ठीक ठीक अन्दाज़ा नहीं लगाया । पृथ्वी और बैल वाली कहानी केवल एक उदाहरण है। ऐसी ऐसी और भी कई भूलें साथ ही सुधर जायगी जब लोग इस काम नियम को समझ लेंगे कि सब कुछ परमात्मा के एक "कवाउ" या आज्ञा में हो जाता है और उसकी कुदरत या "करणै" का कोई शुमार' नहीं।

पञ्च परवाण पञ्च परधान ।

ऐसे शिक्षा प्रति शिष्य पञ्च बनकर [परमात्मा की दृष्टि में] स्वीकृत होते हैं और [मनुष्यों में] बड़ाई पाते हैं। मनुष्य "परवाण" उस की दृष्टि में होता है, जिस की ओर से वह भेजा हुआ किसी कार्य पर लगाया जाता है, वह परमात्मा ही है 'परधान' वह ज़िन्दगियां होती हैं, जिनका प्रभाव लोगों पर पड़े और लोग जिनके कहे अनुसार चलें।

अगली दोनों तुकों में पञ्चों का इन दोनों पदों का पृथक् २ भाव से वर्णन आया है।

पंचे पावहि दरगहि मानु, पंचे सोहहि दरि राजानु ।

वे पञ्च ही परमात्मा के हजूर बड़ाई पाते हैं और वे पञ्च ही शाही दिवान में शोभा पाते हैं।

पञ्चा का गुरु ऐकु धिआनु ।

इन पथ्वों के विचार का नेता केवल परमात्म का ध्यान ही होता है।

जे को कहै करै वीचारु।

यदि कोई मनुष्य कोई बात करे तो वे विचार लेते हैं। अर्थात् जब भी वह किसी से सुनते हैं कि अमुक बात इस तरह है, तो वे झटपट नहीं मान लेते। वे अपनी वृत्ति को परमात्मा की ओर लगा कर जांच लेते हैं कि यह बात ठीक है वा नहीं। यहां ऊपरली तुक में बतलाये "ध्यान" को अमली तौर पर वर्तना बतलाया है। जैसे किसी बात के ठीक या ग़लत होने का निर्णय करते समय वह परमात्मा की ओर ध्यान कर के विचार लेते हैं कि—

करते कै करणै नाही सुमारु।

कर्तार के कार्यों का कोई अन्त नहीं। "करणै" में परमात्मा की शक्तियें उनका फैलाया हुआ रूप और उनके दिये हुये पदार्थ आ जाते हैं, जिनका ज़िकर इस पौड़ी की १७ वीं और १८ वीं तुकों में आया है।

धौलु धरमु दइया का पूतु।
संतोखु थापि रखिआ जिनि सूति॥

लोगों ने जो माना हुआ है कि पृथ्वी को एक नन्दी ने

उठाया हुआ है, वह नन्दी वास्तव में परमात्मा की कृपा का बनाया हुआ क़ानून है, जिसने सारे संसार के प्रबन्ध में संतोष को कार्य में लाया हुआ है। अर्थात् यह सृष्टि का रचना जो एक निर्धारित मर्यादा में चल रही है, इस में प्रत्येक वस्तु क्यों सबर संतोष से बंधी रही है? सूर्य्य क्यों अपने समय पर चढ़ता है और तारे क्यों अपने अपने केंद्र की प्रदक्षिणा कर रहे हैं? पानी का चलता देख कर पेड़ क्यों नहीं चल पड़ते? पहाड़ों को जमा हुआ देख कर वायु क्यों नहीं रुक जाती? इस का कारण यह है कि यह परमात्मा की प्रकृति के नियम में बन्धे हुए अपने अपने गुणों को संतोष से निभा रहे हैं।

इस नियम को परमात्मा की कृपा का पुत्र इस लिए कहा है कि इस के न होने से जीव पर बड़ा अन्याय होता, और नित्य के व्यवहार में बड़ी कठिनाइयें उत्पन्न होतीं। हमें पता है कि सूर्य, जो अब डूब रहा है, कल सवेरे अवश्य चढ़ेगा, नहीं तो सन्ध्या समय कौन काम काज छोड़ कर बैठ जाता? हमें विदित है कि हमारा घर बाहर ज़मीनें स्त्री पुत्र पुत्रियें सवेरे उठने के समय वहीं होंगे जहां रात को सोने के समय छोड़ थे, नहीं तो कौन सुख की नींद सोता? अब तो प्रकृति के नियमानुसार ईंट पर ईंट धरी रहती है अन्यथा कौन मकान बनाने का साहस करता? नियमानुसार पानी नीचे की ओर बहता है, अन्यथा यदि यह भय होता कि हमारी खेती

के पास बह रही नदी कल किसी अन्य ओर बह चलगी या कहीं उड़ जायगी तो हमारे लिये कितना धक्का होता ? प्रकृति के बन्धे नियम के आधार पर संसार में आशा और भरोसा जैसे अमूल्य भाव विद्यमान हैं, नहीं तो सारे संसार में घोर अन्याय फैला होता। इस लिए प्रकृति का नियम दया का ईश्वरीय आदर्श है।

जेको बुझै होवै सचिआरु ।

यदि कोई इस बात को समझले तो वह सच्चा हो सकता है। अर्थात्, जो पृथ्वी के नीचे बैल मानने वाले पक्ष को सत्य सिद्ध करना चाहें, वह सच्चा तब हो सकता है यदि हमारे इस प्रश्न को जान ले कि—

धवलै ऊपरि केता भारु ।

उस नन्दी पर बोझ कितना सा होगा।

धरती होरु परै होरु होरु ।

इस पृथ्वी से परे और पृथ्वी है, उस से परे और है। और उस से परे और है। इस प्रकार की परम्परा बड़ी लम्बी है।

तिसते भारु तलै कवणु जोरु ।

यह सारा बोझ उस नन्दी पर जो हुआ है तो वह नन्दी किस आधार पर खड़ा है ? वह बोझ भी तो देखो कितना है।

जीअ जाति रंगा के नाव ।
सभना लिखिया वुड़ी कलाम ॥

इन पृथ्वियों में जीवों के जो भिन्न भिन्न प्रकारों और रङ्गों के नाम है उन सब का एक चलता क़लम ने लिखा है भाव, नित्य नये जीव उत्पन्न होते रहते हैं और उनका हिसाब समाप्त ही नहीं होता ।

एहु लेखा लिखि जाणै कोइ ।
लेखा लिखिआ केता होइ ॥

इनकी गणना कौन कर सकता है ? और यदि कोई करे भी तो वह कितना बड़ा चिट्ठा बनेगा ।

केता ताणु सुआलिहु रूपु ।
केती दाति जाणै कौणु कूतु ॥

संसार में वर्त रहा परमात्मा का कितना बल, कितना सुन्दरता, और कितनी बखशिश है। इन का अन्दाज़ा कौन लगा सता है ? "कि अजब सरूप है। कि अमिता बिभूति है" (जापु)। उसका बल हो ता देखो कि -

कीता पसाउ एको कवाउ ।
तिस ते होइ लख दरिआउ ॥

एक ही बोल वा आज्ञा से सृष्टि का विस्तार कर दिया। उसी आज्ञानुसार रचना की अनगिनत नदियें बह निकलीं। "ओं कारि उतपाती" किआ दिनसु सभ राती। वणु त्रिणु त्रिभव पाणी। चारि वेद चारे खाणी। खण्डदीप सभि लोआ। एक कवावं ते सभि होआ" (मारु म ५) "कवाउ" यह भाव कोई शाब्दिक या उच्चारण होने वाला शब्द नहीं, क्यों कि आगे चलकर "सुअसति आथि वाणी बरमाऊ" में इसका खण्डन किया है। इस का भाव केवल आज्ञा है, जिसका दूसरा नाम प्रकट रज़ा है। यदि इसका भाव एक बार शब्द उच्चारण लें तो वेद भी सीधे परमात्मा की ज्ञात माने जायेंगे। वास्तव में परमात्मा का आज्ञा प्रकृति के रूप में वर्त रहा है, और प्रकृति से ही नियमानुसार विस्तार होता आया है। जहाँ "कुदरति वेद पुराण कतेबा कुदरति सरब वीचारु" कहा है, वहां ही "कुदरति नेकीआ कुदरति बदीआ कुदरति मानु अभिमानु" भी कहा है।

कुदरति कवण कहा वीचारु।

मेरी क्या मजाल है कि मैं इस बात का वर्णन कर सकूं। यहाँ "कुदरति" से भाव बल वा सामर्थ्य है – "जिउ बोलावहि तिउ बोलहि सुआमी कुदरति कवन हमारी" (गुजरी म० ५)

वारिआ न जावा एक वार *।

मैं तो तेरे ऊपर एक बार भी निछावर होने योग्य नहीं हूं परमात्मा के कार्य अनन्त होने से उन की गणना में लगना व्यर्थ है क्योंकि हम में इतनी शक्ति नहीं कि उसका विचार कर सकें। हम तो उसके कार्य देखकर आश्चर्य चकित रह जाते हैं और विस्मय होकर अपने आपको न्योछावर करने लग जाते हैं, पर अपने तुच्छ अस्तित्व को देख कर रह जाते हैं, न्योछावर भी काफी तौर पर नहीं हो सकते। उस पर न्योछावर भी करें तो क्या करें? मैं तो विचार छोड़ कर यही मानता हूं कि—

जो तुधु भावै साई भली कार।

जो कार्य तुम्हें अच्छा लगता है, वही भला है। नेकी की प्रशंसा यह है कि जो परमात्मा की इच्छानुकूल हो— "जो तिसु भावै, नानका साई गल चङ्गी" (तिलङ्ग म० ४)

तू सदा सलामति निरङ्कार ॥१६॥

हे रूप रेख से न्यारे प्रभु तू सदा स्थिर रहता है।

१७

पीछे यह बतलाया है कि "पञ्च" परमात्मा को करणी के

---

* कई यह अर्थ करते हैं तेरे एक बाल से भी बलिहार होने योग्य मैं नहीं हूं। यदि यह अर्थ हो तो "वार" के "र" के साथ सम्बन्धि (ि) होती। देखो परिशिष्ट १।

विष‌य में फ़ैसला यह करने के लिये परमात्मा ही की ओर ध्यान कर लेगा कि क्या यह बात उसके गुणों के अनुकूल है ? नेकी बदी की पहिचान के लिये भी यही कुंजी काम आयेगी कि क्या यह काम परमात्मा को अच्छा लगेगा ?

इस सिद्धान्त को विसार कर लोगों ने कुछ गिनती के नियम मान लिये होते हैं कि हमने पाँच मकार छोड़ देने हैं, अर्थात् हमने मांस, मत्स्य, मद, मैथुन, और मदिरा नहीं लेना या हमने वशिष्ट के बतलाये पांच महा पातकी कार्य्य नहीं करने (गुरु पत्नी से संभोग, शराब, हत्या, चोरी, नीच जाति से बर्ताव) या पातंजली के बतलाये पांच कुकर्म नहीं करने (हिंसा, झूठ, चोरी, व्याभिचार, ऐश परस्ती) या बुद्ध के बतलाये पांच या आठ या दस कार्य्य नहीं करने। पर पाप फिर भी पीछा नहीं छोड़ता। जैसे चोरी का ही लीजिये। किसी का घर तोड़ कर रुपये और जेवर तो नहीं लिये, पर यदि सस्ती वस्तु लेकर बहुत महंगा बेचे या निमा से कार्य्य करा कर कमती मज़दूरी दे तो क्या यह चोरी नहीं ? इसी प्रकार 'अहिंसा' का सिद्धान्त मान लिया कि किसी जीव की जान नहीं लेना या पर्वों पर पिंजरे में बन्द पंछियों को छुड़ा कर पुण्य मानना है, पर साधारण बर्ताव में जीवों को घोट कर खाना। ऐसों को गुरु जी ने 'छुरी वगाइन तिन गलि ताग' और 'हत्थ छुरी जगत कासाई' कहा है। दूसरे विषय नदी की बाढ़

को तरह के होते हैं और धार्मिक नियम उस बह रही नदी में पुल के थम्भों के समान होते हैं। जब तक विषयों वाला स्वभाव विद्यमान है, तब तक हम धार्मिक नियमों के होते हुए भी किसी न किसी तरह अपना उल्लू सीधा कर ही लेंगे। जैसे उस नदी का पानी पुल के थम्भों के होते भी उन के इर्द गिर्द से होकर निकल जाता है इसी प्रकार जो लोग शराब को वर्जित मानते हैं, उन में से कई भंग या अफ़ीम को उड़ा कर अपना विषय पूरा कर लेते हैं। कई शान्तिमय सिद्धान्त को मानने वाले तलवार वा डंडा तो नहीं बर्तेंगे, पर कई बार जिह्वा का डंडा शायद तलवार से भी अधिक प्रयोग में लाते होंगे। यह सारे परिणाम इस बात के हैं कि लोगों ने धार्मिक नियमों के शाब्दिक अर्थ लिये होते हैं, और उन्हें पूरा कर के समझ लेते हैं कि बस सारा धर्म पूरा हो गया।

गुरु जी इस और अगली पौड़ी में बतलाते हैं कि देखो हमारे देश में धर्म के पीछे लगे हुए लोग कितने धार्मिक नियम पालते हैं। जहां इतने जप पुस्तकों के पाठ और गुण ज्ञान के विचार होते हों, वहां विद्या के प्रकाश से बुद्धि ही बुद्धि फैली हुई होनी चाहिये। पर यहाँ अनगिनत लोग मूर्ख और घोर अन्धकार में फिरते हैं। "इह अचरज मनि आवदी पढत गुणत कछु भेद न आवै" (भाई गुरदास) जहां इतने लोग संसार से उदास हों कि इसको अच्छी अच्छी वस्तुओं

को लात मार कर तत्काल संन्यासी हो जांय, और जहां इतने उदार और दाता हों कि अपना सर्वस्व देने के लिए तैयार हो जांय, वहाँ तो पराई वस्तु का लालच बहुत कम होना चाहिये : पर यहां असंख्य लोग चोरी और हराम का खाने वाले वास करते हैं। जहां हज़ारों बहादुर लोग बसते हों वह क्षात्र धर्म पालन के लिए प्रत्येक समय तलवार का सामना करते और मुंह पर ही खाते जांय, पीठ कभी नहीं दिखायें वहां तो देश रक्षा बड़ा सुगम होनी चाहिये, वहाँ तो किसी की मजाल नहीं होनी चाहिये जो किसी पर कुछ भी अन्याय कर सके। पर देखते क्या हैं कि वहां आकर कई बल पूर्वक राज्य कर जाते हैं और निर्दोष लोगों के गले काटते और स्त्रियों और बच्चों पर पाप करते जाते हैं। जहां इतने लोग मन को शुद्ध करने के लिए एकाग्रता आदि साधन साधते हों, वहां झूट, निंदा आदि मन की बुराइयें कम होनी चाहियें, पर यहां तो झूठों और बुरी वासना वालों की कोई सीमा ही नहीं। कारण यह है कि लोगों ने इन्हीं कुछ कर्मों को धार्मिक कार्य माना हुआ है और परमात्मा की आज्ञा को जो सारे नियमों की जड़ है भुलाया हुआ है। वस्तुतः नेकी वही है जो परमात्मा को अच्छी लगे।

असंख जप असंख भाउ
असंख पूजा असंख तप ताउ ॥

अनगिनत प्रकार के मन्त्र उच्चारण हो रहे हैं और असंख्य ही मार्ग भक्ति के प्रचलित हैं अनगिनत प्रकार की पूजा और अनगिनत प्रकार के तप साधे जा रहे हैं।

असंख गरंथि मुखि वेद पाठि।

असंख्य लोग वेद आदि पुस्तकों का मुख से पाठ करते हैं।

असंख जोग मनि रहहि उदास।

असंख्य योग धारण करने वाले लोग अपने मन में संसार से उदास रहते हैं।

असंख भगत गुण गिआन वीचार।

असंख्य भक्त लोग इख़लाकी गुणों को और फ़िलासफ़ी को विचारते रहते हैं।

असंख सती असंख दातार।

असंख्य उदार और दानशील लोग हैं।

असंख सूर मुह भख सार।

शाब्दिक अर्थ—असंख्य बहादुरों के मुंह लोहा खाते हैं। भाव, असंख्य बहादुर लोग लड़ाई में शत्रु की तलवार की चोटें मुंह पर खाते हैं, पीठ नहीं फेरते। दशम पातशाह (गुरु गोविंदसिंह जी) ने 'सार की धार भछ्या' कहा है।

असंख मोनि लिव लाइ तार ।

असंख्य मौन धारी एकाग्र समाधि लगाते हैं ।

कुदिरति कवण कहा वीचारु ।

वारिआ न जावा एक वार ॥

जो तुधु भावै साई भली कार ।

तू सदा सलामति निरंकार ॥ १७ ॥

अर्थ हो चुके हैं ।

१८

फिर भी—

असंख मूर्ख अंध घोर ।

असंख्य लोग महा अन्धे और बे समझ हैं अर्थात् इतने मूर्ख हैं कि उनकी अज्ञानता की कोई सीमा नहीं ।

असंख चोर हराम खोर ।

असंख्य चोर और पराया स्वत्व अपहरण करने वाले हैं ।

असंख अमर करि जाहि जोर ।

असंख्य लोग बलात् राज्य कर जाते हैं ।

असंख गल वढ हतिआ कमाहि ।

असंख्य कसाई (ज़ालम) ग़रीब मार करते हैं। "गल-बढ" एक संयुक्त पद है, जिसका भाव है गला काटने वाला ज़ालम। " हतिया (हत्या) कमाना" निर्दोषों को मारना है।

असंख पापी पापु करि जाहि।

असंख्य अपराधी बदमाशियें कर जाते हैं। इस तुक में इशारा बाहर से आने वाले विषयी पापियों की ओर है, जो स्त्रियों और बच्चों के साथ पाप कर जाते थे। यह तीनों तुकें उस समय के आक्रमण करके आने वाले विदेशी अत्याचारियों के धक्के और इस देश के आत्माभिमान रहित लोगों की दुर्बलता के नमूने बतलाती हैं।

असंख कूड़िआर कूड़े फिराहि।

असंख्य झूठे लोग झूठ में ही पड़े चक्कर लगाते हैं। एक झूठमारना फिर उन्हें छिपाने के लिये बीसों झूठ मारना यह सारी ऐसी टेढ़ी मेढ़ी परम्परा बन जातीहै कि उस में से निकलना कठिन होजाता है। कूडे = कूडि = कूड में।

असंख मलेछ मलु भखि खाहि।

असंख्य बुरी वासना वाले लोग मैल खाकर अपना उदर पूर्ण करते हैं, अर्थात् आजीविका कमाते हैं—जैसे "कूड बोलि करहि आहार" (आसा दी वार)

असंख निंदक सिरि करहि भारु ।

असंख्य निंदक दूसरों की निंदा करके अपने शिर पर पापों की गठरी लेते हैं ।

नानकु नीचु कहै वीचारु ।

क्षुद्र नानक यह बात कहता है । गुरु जी अपने आपको नीच इस लिये कहते हैं कि ऊपर नीच लोगों का वर्णन पढ़ कर कोई यह न कहे कि गुरु जी अपने आप को ऊँचा समझते हैं । यह गुरु जी की नम्रता आदर्श है । कई सज्जन यह अर्थ करते हैं कि गुरु नानक जी नीचों का विचार करते हैं । यह ठीक नहीं, क्योंकि गुरु जी और जगह भी यह वाक्य अपने लिये प्रयोग करते हैं—नानकु नीच कहै लिव लाय (गौरी म० १) नानकु नीच कहै बीचार । "(आसा म० १) नानकु नीच कहै बीचार, । धाणक रूपि रहा करतार" (श्रीराग म० १) साथ ही यदि "नीचों" का अर्थ होता तो "च" से साथ "ु" न होता । देखो परिशिष्ट नं० १५ ।

वारिआ न जावा एक वार ।
जो तुधु भावै साई भली कार ।
तू सदा सलामति निरंकार ॥ १८ ॥

अर्थ हो चुके हैं ।

१९

ऊपर बतलाया है कि लोग अक्षरों के दास होकर पुण्य पाप को नहीं पहिचानते। इन्हीं अक्षरों के दासत्व का सब से बड़ा परिणाम यह भी है कि लोग परमात्मा के विशेष विशेष नाम और विशेष विशेष धाम मानने लग जाते हैं। कोई कहता है कि परमात्मा का वास्तविक नाम 'अल्लाह" है (देखो कुरआन शरीफ़ का अंग्रेज़ी अनुवाद जो कादियानियों ने किया है) कोई कहता है, उस का नाम "हरि" है या "राम" है। जो अल्लाह को मानते हैं वे राम के समीप नहीं जाते, और जो राम राम जपते हैं, उन के लिए अल्लाह एक हौआ है। ऐसों ने परमात्मा के तीन, न्यानवें वा सहस्र नाम नियत किये हुए हैं। उन्हें ही वह नाम कहते हैं। उन्हें पता नहीं कि यदि भक्त जन अपनी लिखतों और विचारों में परमात्मा के लिए कोई विशेष नाम वर्त गए हैं, तो वह इस लिए कि वह नाम उन भक्तों के विशेष भाव को प्रकट करने के लिए बहुत उपयुक्त था, पर इससे यह सिद्ध नहीं होता कि बस परमात्मा का वही नाम है और कोई नाम नहीं हो सकता। परमात्मा के विषय में विचार करने वालों को विशेष विशेष शब्द इस लिए वर्तने पड़ते हैं कि उन के बिना पढ़ने सुनने वालों को परमात्मा का ध्यान ही नहीं बन्ध सकता, न उस के कोई गुण गा या बतला सकते हैं। हमारे पास अपने भाव प्रकट करने के लिए बोली के अतिरिक्त और

कोई अच्छा शब्द ही नहीं है। और बोली शब्दों द्वारा ही लिखी या बोली जा सकती है। शब्दों द्वारा ही परमात्मा के साथ जो हमारा सम्बन्ध है, उसे बतला सकते हैं, परन्तु परमात्मा इन शब्दों का बंधा हुआ नहीं है; वह स्वतन्त्र है; जैसा चाहे करता है। उसे केवल भाषा के शब्द ही प्रगट नहीं करते। जो कुछ भी उस का बनाया हुआ दीख रहा है, उसे प्रकट करता है, इस लिए वह उस का नाम है। क्योंकि नाम उस चिह्न को कहते हैं जो किसी वस्तु के अस्तित्व वा गुण को प्रकट करे। चूंकि नगर, जङ्गल, पहाड़, चन्द्र, तारे, मनुष्य, पशु, पक्षी अपने बनाने वाले के अस्तित्व और गुणों को बतलाते हैं, इस लिए जो भी है नाम ही है कोई स्थान भी ऐसा नहीं, जहां नाम का प्रकाश न होता हो। इस लिए वह प्रत्येक जगह बस रहा है। केवल मक्के वा हरिद्वार मन्दिर वा मसजिद में ही नहीं बसता।

नाम से क्या भाव है?

गुरु वाणी में "नाम" कई अर्थों में प्रयुक्त हुआ है—

(१) क्योंकि गुरु जी ने इस भ्रम का छेदन करना था कि परमात्मा के कई विशेष नाम हैं और बतलाना था कि जिस भाषा या जिस शब्द से उसे स्मरण करो, वही उसे स्वीकार है, इस लिए उन्होंने अपनी वाणी में हिन्दुओं और मुसलमानों, योगियों, वैष्णवों और शैवों में प्रचलित ईश्वरीय नामों का

प्रयोग किया है। पर साथ ही इस बात को रोकने के लिये कि कहीं सिक्खों में उन नामों में से किसी विशेष पक्ष वाला नाम प्रचलित न हो जाय, गुरु जी ने परमात्मा के लिये प्रायः "नाम" शब्द का ही प्रयोग किया है। देखो—"नाम के धारे सगले जंत। नाम के धारे खण्ड ब्रह्मण्ड" (सुखमणी)। हरि नामु हमारा प्रभु अविगतु अगोचरु अबिनासी पुरखु बिधाता। हरिनामु हम स्रेवहि, हरि नामु हम पूजहि, हरिनामो ही मनु राता" (वार बड हंस म० ४)। नानक जनु नामु सलाहे विगसे, सो नामु बेपर-वाहा हे" (मारू म०३)। "दरसन नाम कउ मनु आछै" (देव गंधारी म० ५) "नामु निरंजनु नालि है, किऊ पाईऐ भाई। नामु निरंजनु वरतदा रविआ सभ ठाई। गुर पूरे ते पाईऐ हिरदै देह दिखाई" (वार सारंग म०४)। यहां नाम से भाव सगुण स्वरूप परमात्मा स्वयं है। कोई अक्षरों के बिना शब्द नहीं हो सकता। "हउ बलिहारी सतिगुर अपने जिनि गुपतु नामु परगाझा" (जैतसरी म० ४)। यहां भी परमात्मा के अस्तित्व को ही नाम कहा है। अन्यथा वह कौनसा शब्द छिपा पड़ा था जो गुरु जीने आकर बतलाया। कबीर जी भी इसी प्रकार प्रयोग करते थे, "हिन्दू मूरति नाम निवासी, दुह महि ततु न हेरा" (विभास प्रभाती)। भाव यह कि हिन्दूओं के अनुसार मूर्ति में परमात्मा वास करता है, परमात्मा और मूर्ति में कोई भेद नहीं। मूर्ति में अक्षरी शब्द का वास कोई नहीं मानता।

(२] पर वास्तव में "जस ओहु है तस लखै न कोई" (कबीर बा० अ०), मनुष्य के लिये जैसा परमात्मा है वैसा जान लेना सम्भव नहीं क्योंकि "ऐ वडु ऊचा होवै कोइ, तिसु ऊचे कउ जाणै सोइ" इस लिए हम से इतना ही हो सकता है कि उस का कुछ ही प्रकाश देखें। नाम का दूसरा अर्थ परमात्मा का वह भाव है जो मनुष्य पर प्रकाश होता आया है। "वडी वडियाई जा वडा नाउ" (आसा दी वार)। में "नाउ" का अर्थ परमात्मा के गुणों का प्रकाश है। "जेता कीता तेतानाउ" में भी यही अर्थ है।

(३) पर परमात्मा का प्रकाश गुरशब्द या गुरुबाणी में भी है। "साचा नाम साचै सबदि जानै" (बिलावल म० ५)। "सद सुनदा सद वेखदा सबदि रिहा भरपूरि" (आसा म० ३)। "गुरबाणी वरती जग अंतरि, इसु बाणी ते हरि नामु पाइदा" (मारू म० ३)। अन्यान्य जपों में उच्चारण, ध्यान और ज्ञान की पृथक् तीन सीढ़ियों पर चढ़ कर नाम के शिखर पर पहुँचना पड़ता है, पर "धुनि महि धिआनु, धिआन महि जानिआ, गुरमुखि अकथ कहानी" (रामकली म० १) ; अर्थात् गुरुवाणी की ऐसी अकथनीय बात है कि शब्द उच्चारण करने से ही ध्यान बन्ध जाता है, और ध्यान लगाते समय ही ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। तीनों अवस्थायें एक बार ही आ जाती हैं। इस लिए बाणी को ही कई स्थलों पर नाम कहा है—

"गुर का सबदु अंम्रित है बाणी । अनदिनु हरि का नामु वखाणी" (मारू म० ३); अर्थात् गुरु का शब्द अमृतवाणी है, इसी को हरि का नाम समझ कर उच्चारण करो। "सुखमनी" साहब को गुरु जी ने नाम कर के कहा है; "सुखमनी सहज गोबिन्द गुन नाम" "जपुजी" जो जप करने के लिये है, एक शब्द नहीं, बल्कि एक विचारवाली वाणी है। वाणी को ही नाम कर के गाना लिखा है—"हउ अनदिन हरि नामु कीरतनु करउ" (आसा म० ४)। "सुखमनी" साहब की तीसरी अष्टपदी में मन्त्रों के जप का निराकरण करके राम नाम का विचार करना बतलाया है। इसी प्रकार २२ वीं अष्टपदी में कहा है कि "राम नाम ततु करहु बीचारू"। अब गाना और विचारना किसी वाणी का ही हो सकता है, न कि किसी एक शब्द का। "बिनु सतिगुर नामु न पाइये, भाई विनु नामै भरमु न जाई" (सोरठ म० १)। यहां भ्रम को दूर करने वाली वाणी ही हो सकती है। इसी प्रकार "जपुजी" में "सुणिये" और "मंनै" की पौड़ियों में नाम और सत्गुर शिक्षा को एक कर के बतलाया है। गुरुवाणी में कई जगह बचन, शब्द, वाणी और नाम के एक से गुण बतलाये हैं देखो आसा म० ३; अष्टपदी ८, ९;- श्रीराग म० ३, घर १; अष्टपदी ५; और धनासर म ०१ छंत।

(४) फिर नाम जपना क्या हुआ? गुरु साहब ने जप की निन्दा भी की है और स्तुति भी। भेद यह है कि जप

की जो प्रणाली गुरु जी से पहिले प्रचलित थी कि एक शब्द को पुनः पुनः यूंहां मुंह से दोहराना, उसे तो गुरुजी ने रद्द किया है—"राम राम सभु को कहै, कहिऐ राम न होइ" (गूजरी म० ३)। भाई गुरुदास जी भी कहते हैं—"माला तसबी तोड़िकै जिउँ सत तिवं अठोतर लाइआ। मेरु इमाम रलाइ कै राम रहीम न नाउँ गणाइआ (वार ३९)। यदि कहो कि "जप" पद रटने के स्थान में आता है, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि "जप" ध्यान के अर्थों में भी आता है "नानक जपि जपि जीवै हरि के चरन" (सुखमनी)।

सिक्ख धर्म में नाम जपने का भाव यह है कि परमात्मा का स्वरूप जो गुरु साहब के शब्द द्वारा अनुभव होता है, उसमें ध्यान जोड़ना, पुनः पुनः ध्यान जोड़ना। "जिउ पुरखै घर नारि है, अति लोचै भगति भाइ। बहु रस सालणे सवारदी षट रस मीठे पाइ॥ तिउ बाणी भगत सलाहदे हरि नामै चितु लाइ। मनु तनु धनु आगै राखिआ सिरु वेचिआ गुरु आगै जाइ॥" (सलोक वां ते वधीक म० ३)। जब मन सब सोच विचार से लांघ कर एक परमात्मा के विसमाद रूप में टिक जाता है, तो कुछ समय के लिये मन में एक शुकर का फुरना रह जाता है, कि धन्य है वह गुरु, जिसने ऐसे परमात्मा का ऐसा चमत्कार बतलाया है। उस समय अपने आप मुंह से "वाहि गुरु" "वाहि गुरु" निकलता है। वास्तव में यह जुड़ा हुआ शब्द

गुरु से [जो परमात्मा का प्रत्यक्षस्वरूप है] बलिहार जाने का बोधक है; पर चूंकि परमात्मा की हजूरी में टिकने के समय मुंह से निकलता आया है, इस लिये परमात्मा के लिये प्रयुक्त होता है।

सिक्खों में आरम्भ से यह बात चली आई है कि धार्मिक आश्चर्यता के समय "गुरू" "गुरू" जपते हैं, वा "वाह" "वाह" करते हैं, या दोनों को मिला कर "वाह गुरु" "वाह गुरु" कहते हैं। "साखियों" में लिखा होता है कि अमुक मनुष्य गुरु नानक साहब के पास आ कर नामधारी हुआ और लगा "गुरु गुरु" जपने। अरदास करने के समय भी जब धर्म के नाम पर कुरबान होने वालों की पृथक् पृथक् झांकी आंखों के सामने आती है, उस समय सुनने वालों के मुंह से "वाह गुरु" "वाह गुरु" निकलता है। इस प्रकार जब ध्यान "अति प्रीतम मन मोहिना घटि सोहिना" के स्वरूप में जम जाता है, तो जब तक कुछ भी फुरना फुरने की गुँजायश रहती है, तब तक मुंह से गुरु के लिये धन्यवाद की ध्वनि निकलती है। फिर जब मन बिलकुल लयलीन हो जाता है, तो वह ध्वनि समाप्त होजाती है। उस ध्यान को "अजप्पा-जाप" कहते हैं।

असंख नाव असंख थाव।
अगंम अगंम असंख लोअ।

परमात्मा के ही नाम हैं और असंख्य ही उस के स्थान हैं। असंख्य असंख्य उस के वास लाक हैं, जिन तक हमारी पहुँच नहीं हो सकती।

असंख कहहि सिरि भारु होइ ।

असंख्य कहते भी शिर पर भार होता है, अर्थात् असंख्य कहना भी भूल है, क्योंकि हो सकता है कि कई वस्तुओं का समुदाय हमारी गणना-शक्ति से परे हो, पर वह समुदाय आप सीमा-बद्ध हो। जैसे सूर्य्य की किरणें रेतीले में रेत के कण। गुरु साहब चाहते हैं कि "अगंम", अगंम" का भाव प्रकट हो, जो शब्द। "असंख" से पूरे तौर पर प्रगट नहीं होता। देखो परिशिष्ट नि० १ (अ)।

अखरी नामु अखरी सालाह ।

अक्षरों के द्वारा परमात्मा का नाम लिया जाता है, और अक्षरों के द्वारा उस की प्रशंसा होती है। यहाँ अक्षर का अर्थ भाषा का शब्द है। भाव यह है कि किसी न किसी भाषा के विशेष २ शब्दों द्वारा परमात्मा का नाम लेना होता है, या उस की प्रशंसा की जाती है। यदि भारतवर्ष में हों तो परमात्मा को 'परमेश्वर', 'निराकार', 'हरि' इत्यादि नाम वर्त कर पुकारना पड़ता है, या करणहार, दाता कह कर प्रशंसा करनी पड़ती है। पर यदि ईरान में हों तो "खुदा", "किरदगार" जैसे पदों का प्रयोग करना पड़ता है।

अखरी गिआनु गीत गुण गाह ।

अक्षरों (या शब्दों) द्वारा विचार होते हैं, गायन गाये जाते हैं, और भले बुरे गुणों का विचार होता है। जैसे १० वीं पौड़ी में विचार करते बतलाया था। मनुष्य में तीन प्रकार के ही भाव होते हैं—जानने की शक्ति, कोमल उद्गार और इख़लाकी गुणों की पहिचान। इन भावों को जब शब्दों द्वारा प्रगट करेंगे, तो परिणाम फ़िलासफ़ी, गीत और अच्छे बुरे गुणों का विचार ही निकलेगा।

अखरी लिखणु बोलणु बाणि ।

अक्षरों द्वारा बाणी या बोली का लिखना और बोलना बनता है। "जहाँ बोल तह अछर आवा' (गौरी कली २)। यहाँ अर्थ "लिखने बोलने की बाणी" नहीं हो सकता, क्योंकि "ण" के साथ " ु " है। देखो परिशिष्ट नं० १५।

अखरा सिरि संजोगु बखाणि ।

अक्षरों (या शब्दों) के आधार से ही परमात्मा के साथ जो हमारा सम्बन्ध है, उस का वर्णन किया जाता है।

जिनि एहि लिखे तिसु सिरि नाहि ।

जिसने यह संयोग लिखे हैं, अर्थात् सम्बन्ध बनाये हैं, वह इन अक्षरों के नीचे नहीं है। "द्रसटमान अखर है जेता। नानक पारब्रह्म निरलेपा ॥" (बावन अखरी म० ५)

उस पर कोई और अस्तित्व हो, तो वह किसी अक्षर की सीमा में हो, वह तो स्वयं शासक हुआ। और—

जिव फुरमाए तिव तिव पाहि।

ज्यों ज्यों वह आज्ञा करता है त्यों त्यों हमें मिलता है।

जेता कीता तेता नाउ।

जो कुछ परात्मा का बनाया है, वह उस का नाम है, क्योंकि यह परमात्मा को प्रगट करता है।

विणु नावै नाही को थाउ।

उस के नाम से खाली कोई स्थान नहीं। सब जगह वह बस रहा है किसी एक जगह का बन्धा हुआ नहीं।

कुदरति कवण कहा वीचारु,
वारिआ न जावा एक वार।
जो तुधु भावै साई भली कार
तू सदा सलामति निरंकार ॥ १९ ॥

अर्थ हो चुके हैं।

२०

पाप पुण्य और नाम के विषय में अक्षर बन्धन से बचा कर गुरु जी बतलाते हैं कि पाप धोने के लिये नाम के प्यार से अतिरिक्त और कोई साधन नहीं है।

पाप धोने के लिये आवश्यक है कि मनुष्य पहिले पाप पुण्य के होने को ही न माने। यदि मनुष्य वेदान्त के नाम पर पाप पुण्य के होने को ही न माने और कहे कि यह दोनों पद केवल नाम मात्र को हैं जो वाद विवाद के क्षेत्र में काम आते हैं और वास्तव में इन की असलीयत कुछ नहीं है, तब सुधार क्या हो सकता है? गुरु जी फर्माते हैं कि पहले यह मानो कि पाप और पुण्य केवल कहने मात्र को ही नहीं, बल्कि जो कुछ हम करते हैं, उस का भला बुरा प्रभाव साथ लिख कर ले जाते हैं। दूसरी बात जो पाप दूर करने में रुकावट डालती है वह यह है कि लोग मान बैठते हैं कि एक के पाप दूसरे को जा लगते हैं और उन का फल कोई और जा भोगता है। जैसे ईसाई मानते हैं कि सारे पापियों के पाप का बोझ हजरत ईसा मसीह उठा लेता है। गुरु जी का भाव यह है कि जो बीजता है वह आप ही खाता है, और कर्मों पर हुकम की कलम चलती है जिस के अनुसार मनुष्य जन्म मरन में जाता आता है।

भरी ऐ हथु पैरु तनु देह।

पाणी धोतै उतरसु खेह॥

यदि हाथ पांव या शरीर का धड़ मिट्टी से लथपथ हो जाय तो पाणी से धोने पर वह मैल उतर जाती है।

मूत पलीती कपड़ु होइ ।
दे साबुनु लईऐ उहु धोइ ॥

यदि मूत्र से गन्दे हुये कपड़े हों तो साबुन लगा कर उन्हें धो लिया जाता है ।

भरीऐ मति पापा कै संगि ।
उहु धोपै नावै कै रंगि ॥

इसी प्रकार यदि हमारा अन्तःकरण पाप द्वारा मलिन हो जाय तो वह परमात्मा के नाम के प्यार से धोया जा सकता है । "जिउ साबुनि कापर ऊजल होत । नाम जपत सभु भ्रमु भउ खोत" (रामकली म० ५)

पुंनी पापी आखणु नाहि ।

पुण्यवान वा पापाचारी केवल कहने मात्र को ही नहीं है ।

करि करि करणा लिखि लै जाहु ।

परन्तु तुम कर्म करके अपने साथ लिखते जाते हो, अर्थात् उस का प्रभाव तुम्हारी हस्ती में अङ्कित हो जाता है । और जहाँ जाते हो तुम्हारे साथ जाता है ।

आपे बीजि आपे ही खाहु ।

जो आप बीजते हो वह आप ही खाते हो । जो कर्म आप करते हो , उन का फल और कोई नहीं पाता, तुम आप ही

पाते हो "कीता आपो आपणा आपे ही लेखा संढीऐ" (आसा दी वार) अहिकारू करे सु अहिकारू पाए कोई। न पकड़िये किसै थाइ" (आसा म० ५)

नानक हुकमी आवहु जाहु ॥ २० ।

गुरु नानक जी कहते हैं कि परमात्मा की आज्ञानुसार आवागमन में जाते आते हो।

२१

पाप दूर करने के लिये और पुण्य प्राप्ति के लिये नाम ही मुख्य साधन है। यदि मनुष्य को तिल भर भी नाम की प्राप्ति का मान मिल जाय तो समझो कि उसके लिये तीर्थ यात्रा, तप साधन दया और दान होगये। इस नाम को हमने श्रवण मनन और हर्दिक प्यार करना है। इसी से हमारे पाप भीतर ही भीतर पवित्र आत्मा के तीर्थ पर धोये जायँगे और पुण्य आकर वास कर लेंगे। क्योंकि बिना अमली शुभ कमाई के भक्ति नहीं हो सकती। पर हम जो जो नेकी करेंगे उसे परमात्मा की ओर से ही होती मानेंगे। ओर कहेंगे कि "हे परमात्मा जो सत्कार्य मुझ से होते हैं, वह सब तेरे ही हैं, मैं तो कुछ भी नहीं करता"।

गुरु जी मनुष्य को परमात्मा के प्रेम में पक्का करने के लिये निश्चय दिलाते हैं कि परमात्मा ही करण कारण है। यदि किसी बच्चे को अपने पिता के होते ताऊ चाचे वा किसी बेगाने पुरुष

से रोटी पैसे लेने की आशा हो तो वह बच्चा अपने पिता को भली प्रकार प्यार नहीं कर सकेगा। इसी प्रकार जो परमात्मा के साथ साथ सृष्टि की रचना वा उस के जीवों के मानसिक वा आत्मिक रसों का स्रोत किसी और हस्ती को माना जाय तो एक परमात्मा का प्रेम पूरे तौर पर नहीं निभ सकता। इस लिए गुरु जी ने नाम का प्यार बतलाने के अनन्तर आवश्यक समझा है कि उस प्यार के मार्ग में जो रुकावटें पड़ी हुई हैं, उन्हें भी दूर किया जाय।

वे रुकावटें ये थीं कि एक तो लोगों ने परमात्मा की जगह माया को या ओ३म् आदि शब्दों को, वा ब्रह्मा को सृष्टि का निर्माता माना हुआ था। गुरु जीने इन की जगह एक परमात्मा को ही कर्ता बतलाया, ताकि लोगों की दृष्टि इन की ओर से हट कर एक परमात्मा पर जा टिके। दूसरी बात यह कि मनुष्य के भीतरी भावों को एक परमात्मा की ओर मोड़ने के लिये परमात्मा का ही स्वरूप ऐसा बतलाया जो मनुष्य की सब वासनायें पूर्ण करने वाला हो। जैसे पहले बतला चुके हैं— मनुष्य के भीतर तीन प्रकार की भूख होती है। जानने की भूख, रूप रस पहिचानने की भूख और इख़लाकी भूख।

१.— जानने की भूख से मनुष्य सदा वस्तुओं के ज्ञान के पीछे लगा रहता है। हज़ारों मनुष्य प्राणों को संकट में डाल कर पृथ्वी के शिखर वा हिमालय पहाड़ को चोटी तक पहुंचने

का प्रयत्न करते आये हैं, केवल इस लिए कि देखें वहां क्या है। कई मनुष्य नक्षत्रों के वास का वृत्तान्त जानने के अभिप्राय में लगे हुए हैं। इस भूख का परिणाम, गणित, विज्ञान (साइंस) और फ़िलासफ़ी है। जब लोग इन को ही जीवन का मुख्य प्रयोजन मानने लग पड़ते हैं तो कई तरह के अधर्म और उपद्रव उत्पन्न होते हैं।

(२) रूप रस की भूख। यह कोमल वृत्तियें उदुगार और भाव होते हैं जो मनुष्यों को सुन्दरता की ओर प्रेरते हैं। इन से ही कविता, राग, चित्रकारी आदि कोमल कलाएं बनी हैं। युनान देश के लोग पत्थर की घड़ी हुई मूर्तियें और इमारतें ऐसी ऐसी सुन्दर छोड़ गए हैं कि अब तक उनकी तुलना करना कठिन है। पर परमात्मा को भूल कर केवल शिल्प के पीछे लगे हुए वे ऐसे प्रभाव छोड़ गए कि सुकरात जैसे महात्मा की उत्तमता को न पहिचानते हुए आप भी गले, और जिन रूम जैसों ने उनका पीछा किया वे भी गले। पूर्व में मूर्तिपूजा और पश्चिम में माया पूजा का मूल कारण बने।

(३) इख़लाकी भूख, या परोपकार की उमंग। मनुष्य के भीतर स्वाभाविक रीति पर यह इच्छा भरी हुई है कि वह भले बुरे की पहचान करके भले के पीछे लगे। इस लिए मनुष्यों के भीतर धर्म बनते आये हैं। पर केवल इख़लाक के पीछे लगे धर्म केवल कर्तव्य की रीति पर रह जाते हैं, जिस

का परिणाम केवल कर्म काण्ड का झमेला ही होता है। यह तीन प्रकार की भूख हम में स्वभाव सिद्ध हैं। और जो कार्य भी हम करते हैं उस में हम इन तीनों को ही पूर्ण करने का यत्न करते हैं। कोई वस्तु हमें पूरी तरह अच्छी नहीं लगती जब तक वह इन तीनों को पूरी तरह न तृप्त करे। यदि अपने लिए एक मकान बनाते हैं, तो उस में भी तीनों बातें विद्यमान होती हैं। पहली भूख तो यह जान कर पूरी होती है कि यह मकान हमारा है। दूसरी भूख यूँ पूरी होती है कि उस की बनावट, दिवार, छत, टीप, टाप लेपन, रंग आदि सुन्दर होते हैं। तीसरी भूख यूँ पूरी होती है कि वह हमारे शिरको ढांपता और रहने के काम आता है। इसी प्रकार हम चाहे कितने ही सादगी के रोगी हों, कपड़ों की काट और सिलाई कुछ न कुछ सुन्दरता अवश्य रख लेंगे। धर्म में भी यही तीनों प्रकार की भूख पूरी होती है। इसका ज्ञान वा फ़िलासफ़ी पहली भूख के लिए होती है इस में बतलाया सदाचार तीसरी भूख के लिए होता है; और इसके संस्कार चिन्ह दूसरी भूख के लिए होते हैं। कोई धर्म हमारी पूरी तरह तृप्ति नहीं कर सकता जिस में इन तीनों प्रकार की भूख के लिए उचित प्रबन्ध न हो।

इसी तरह परमात्मा का भी वही पूर्ण स्वरूप हो सकता है जो मनुष्य की सारी दिमाग़ी कोमल और इख़लाकी इच्छाओं

को पूर्ण कर सके। इस लिये गुरु जी ने बतलाया है कि परमात्मा "सत्" स्वरूप है; अर्थात् सब सच्चाइयों का पुञ्ज है, जो हमारी ज्ञान शक्ति की पूरी तुष्टि कर सकता है। वही "सुहाण" अर्थात् सुन्दरता की कान है, इसके साथ हमारे हुनर और प्रेम के भाव पूरे तोर पर फैल जाते हैं; वही हमारे दिल में नेकी के लिये सदा उठती उमङ्गों को पूरा कर सकता है, क्योंकि वह "सदा मनि चाउ" है। दशम पातशाह ने भी परमात्मा का यही स्वरूप बतलाया है—"कि साहिब दिमाग़ है, कि हुनर चराग़ है, कि कामल करीम है, कि राज़क रहीम है।" (जापु साहब)। मनुष्य को परमात्मा का आज्ञाकारी (वफ़ादार) भक्त बनाने के लिये परमात्मा के विषय में दो विचार दिये हैं। एक यह कि उस के करतार होने में कोई शरीक नहीं; और दूसरा यह कि वह हमारे सारे उच्च भावों को पूरा करने वाला है। अब पहिली बात यह कहते हैं, कि यदि वह स्वतन्त्र-कर्त्ता है, और सृष्टि रचने में उसके बिना किसी का हाथ नहीं तो यह भी साथ ही मान लो, कि पण्डितों, क़ाज़ियों और योगियों में से किसी को भी ज्ञात नहीं, कि उसने सृष्टि कब बनाई। दूसरी के विषय में, अर्थात् परमात्मा के स्वरूप के विषय में यह कहते हैं कि कहने को तो चाहे सारे बुद्धिमान् बढ़ बढ़ कर कह गये हैं कि परमात्मा यूँ नहीं यूँ है, पर मैं नहीं जानता, कि मैं परमात्मा का कैसे वर्णन करूँ, वा श्लाघा

करूँ। मैं तो केवल इतना जानता हूँ, कि वह बड़ा है, और समर्थ है।

तीर्थु तपु दइआ दतु दानु।

जेको पावै तिल का मानु।

यदि किसी को परमात्मा के नाम का कण भर भी मान मिल जाय, तो समझो कि उस ने तीर्थों का स्नान, तप–साधन, जीवों पर दया और पुण्य दान कर लिये। "पुंन दान जप तप जेते सभ उपरि नामु" (आसा० म० ५)। करम धरम अनेक किरिआ सभ ऊपरि नामु आचारु" (आसा म० ५)। "चरण भजे पारब्रह्म के सभि जप तप तिन ही कीर्ति" (श्रीराग म० ५)।

सुनिआ मंनिआ मनि कीता भाउ।

अंतरगति तीरथि मलि नाउ।

यह नाम सुनना मानना और इसको मन से प्यार करना यह वर्तन एक भीतरी तीर्थ है, जिस पर मलमल कर स्नान करो और पापों को धो डालो।

सभि गुण तेरे मै नाही कोइ।

हे परमात्मा सारे गुण तेरे हैं मुझ में कुछ नहीं।

विणु गुण कीते भगति न होइ।

बिना क्रियात्मक रीति से नेकी करने के परमात्मा की

भक्ति नहीं हो सकती। ऊपर बतलाया हुआ "मनि कीता भाउ" बिना क्रियात्मक जीवन के कुछ अर्थ नहीं रखता। "गली भिसति न जाइए, छुटै सचु कमाइ" (माझ म० १)

सुअसति आथि बाणी बरमाउ।

नमस्कार है उस को जो आप माया है, वाणी है और ब्रह्म है।

सति सुहाणु सदा मनि चाउ।

वह सत् स्वरूप है, सुन्दर है, और मन में सदा नेकी के चाव की शकल में रहता है।

कवणु सु वेला वखतु कवणु
कवण थिति कवणु वारु।
कवणि सि रुती माहु।
कवणु जितु होआ आकारु॥

जब सृष्टि की रचना हुई तब क्या समय था। कौन सी तिथि और कौनसा दिवस था, तब कौन सी ऋतु और कौनसा महीना था।

वेल न पाईआ पंडती जि होवै लेखु पुराणु।

वह समय पंडितों को नहीं मिला। जो कोई कहीं तद्विषयक पुराण लिखा होता।

वखतुन पाइउ कादीआ ।
जि लिखनि लेखु कुराणु ॥

वह समय काज़ियों को भी नहीं मिला, जो कुरान वाले लेख लिखते हैं।

थिति वारू ना जोगी जाणै रुति माहु न कोई।

तिथि और बार कोई योगी भी नहीं जानता और न कोई ऋतु और महीना जानता है।

जा करता सिरठी कउ साजे आपे जाणै सोई।

वह समय जब करतार सृष्टि को बनाता है, वह आप ही जानता है।

किव करि आखा किव सालाही।
किउ वरनी किव जाणा ॥

मैं उस परमात्मा को क्या कह कर बुलाऊं, कैसे उस की प्रशंसा करूँ, किस तरह उसे वर्णन करूँ और किस तरह उसे समझूँ।

नानक आखणि सभु को आखै।
इकदू इकु सिआणा ॥

हे नानक! कहने को तो प्रत्येक एक से एक स्याना हो

कर कहता है कि परमात्मा यह है और यह नहीं है पर मुझे तो यही कहना बनता है कि—

वडा साहिबु वडी नाई कीता जाका होवै ।

वह मालिक बड़ा है और उस का प्रकाश भी बड़ा है यह परमात्मा ही है जिस का किया होता है। और कोई कुछ नहीं कर सकता ।

नानक जे को आपौ जाणै
अगै गइआ न सोहै ॥ २१ ॥

हे नानक ! जो कोई मनुष्य समझे कि अमुक कार्य मुझसे हुआ है, तो वह परमात्मा की दरगाह में अच्छा नहीं लगेगा । "सभु किछु हुकमे आवदा सभु किछु हुकमे जाइ । जे को मूरख आपहु जाणै अंधा अंधु कमाइ ॥"(म०३, वार विहागड़ा म०४)

२२

क्योंकि भक्ति के लिये आवश्यक है कि पहिले "परमात्मा बड़ा है" का भाव उत्पन्न हो, इस लिये यहां से ले कर "सोदर" तक परमात्मा की बड़ाई को ही पृथक् पृथक् रूप से दर्शाया है । इन पोड़ियों का आपस में टाकरा करने से प्रतीत होता है कि कैसे गुरुजी क्रमशः ऊँचो से ऊँची झांकी बतलाये जाते हैं । पहिले (२२ वीं और २३ वीं पौड़ी) प्राकृतिक-संसार का अनन्त आकार; फिर (२४ वीं पौड़ी) इस आकार में

बनाई हुई देखने और सुनने वाली अनन्त वस्तुएं; फिर (२५ वीं पौड़ी) कई तरह के सांसारिक पदार्थ; फिर (२६ वीं पौड़ी) सब से ऊंची इख़लाकी और आत्मिक गुणों की बख़शीसें। जपुजी साहब की रचना की बड़ी खूबी यह है कि इस में विचारों की परम्परा सीढ़ियों के ढङ्ग पर की है, जो बाणी की सारी बनावट में सचमुच सीढ़ी होकर पड़ी दिखाई देती है।

पहिले सृष्टि के अनन्त विस्तार को लेते हैं, और उस के अनन्त होने में परमात्मा की बड़ाई दर्शाते हैं।

पाताला पाताल लख आगासा आगास।

उस की रचना में लाखों ही पातालों के आगे पातल और आकाशों के आगे आकाश हैं।

ओड़क ओड़क भालि थके
वेद कहनि इक वात।

उन का अन्त ढूंड ढूंड कर वेद केवल एक ही बात कहते हैं कि हम थक गये हैं(परन्तु रचना का अन्त नहीं पाया)।

सहस अठारह कहनि कतेबा
असुलू इकु धातु।

मुसलमान आदि पश्चिमीय लोगों की पुस्तकें कहती हैं

कि सृष्टिके अठारह हज़ार आलम वा संसार हैं; पर वास्तव में इसका भाव भी वही है, जो ऊपर बतलाया वेदों का है। किसी ने कहा अनन्त है, और किसी ने सहस्रों सहस्र कह दया। दोनों बातों का भाव एक ही "अनन्त" है। भक्त नामदेवजी भी सृष्टि को कई हज़ार आलमों पर बाँटते हैं—"चंदी हज़ार आलम एकल खाना" (तिलंग)। भक्त काहना गउड़ी राग में कहते हैं—" सहस अठारह आलम भाई। नेको बदी सभ करि करि जाई॥ " कवि सन्तोषसिंहजी अपते जपुजी साहब की टीका में कहते हैं—"हिन्दुओं के पुराणों में चुरासी लख जूनि लिखत है, तुरकन के अठारह हज़ार आलम कतेबन में लिखत है।"

लेखा होइ त लिखीऐ लेखै होय विणासु।

यदि रचना की कोई गिनती हो तो लिखें। लेखा करते करते तो लिखने वाले का अन्त हो जाता है, पर लेखा नहीं समाप्त होता।

नानक वडा आखीऐ आपे जाणै आपु।

हे नानक! हमें तो परमात्मा को बड़ा ही कहना चाहिये, वह कितना बड़ा है, यह वह आप ही जानता है

२३

कई लोग मानते हैं कि जब मनुष्य भक्ति कर के परमात्मा में लीन हो जाता है, तब वह परमात्मा की बड़ाई का

पूरा पूरा भेद पा लेता है । गुरुजी बतलाते हैं कि नहीं, जैसे नदियें और नाले समुद्र में पड़ कर उस का सारा अन्त नहीं पा सकते, तैसे ही भक्त जन लीन होकर चाहे परमात्मा के विषय में बहुत कुछ जान लेते हैं, पर फिर भी उन्हें यहाँ तक सूझ नहीं हो जाती, कि कह सकें, कि परमात्मा इतना बड़ा है। तो क्या परमात्मा की भक्ति करने से कुछ भी बड़ाई नहीं मिलती ? मिलती है, पर वह मनुष्यों की तुलना में मिलती है, परमात्मा को तुलना में नहीं । जो भक्ति करते हैं, वे मनुष्यों की श्रेणी में तो इतने ऊँचे हो जाते हैं कि उनके सामने राजे भी च्यूँटी जैसे तुच्छ होते हैं, पर परमात्मा की तुलना फिर भी नहीं प्राप्त करते । जब परमात्मा के तुल्य न हुए, तो उन के लिये परमात्मा की बड़ाई को पूरी तरह जान लेना असम्भव है, क्योंकि "ऐवडु ऊचा होवै कोइ, तिसु ऊचे कोउ जानै सोइ ।"

सालाही सालाहि एति सुरति न पाईआ ।
नदीआ अतै वाह पवहि समुंदि न जाणीअहि ।

परमात्मा की प्रशंसा करने वाले उस की प्रशंसा करते हैं, पर यह पता उन्हें भी नहीं होता कि उस की बड़ाई कितनी है; जैसे समुद्र में नदियें और नाले पड़ते हैं, पर उसे पूरी तरह नहीं समझ सकते, अर्थात् उस के सारे पेट और गहराई का सार नहीं ले सकते ।

समुद साह सुलतान गिरहा
सेती मालु धनु ।
कीडी तुलि न होवनी जे तिसु
मनहु न वीसराहि ॥ २४ ॥

वह बादशाह जा समुद्रों के मालिक हों, और जिन के पास धन पर्वतों से परिमाणबद्ध किया जाने वाला हो, वह भी उस कीड़ी के बराबर नहीं, जिसे परमात्मा हृदय से नहीं भूलता ।

२४

अंतु न सिफती कहणि न अंतु ।

परमात्मा के गुणों का कोई अन्त नहीं, और न कोई अन्त उन गुणों के वर्णन करने का है। "कहणि" "देणि", "वेखणि" और "सुणणि" भावार्थ हैं; और इनके साथ 'ि' परिशिष्ट के नियम १ (अ) वाला है।

अंतु न करणै देणि न अन्तु ।

उस के कार्यों का कोई अन्त नहीं और न कोई अन्त उस के देने का है। जो वस्तुएं बनाता है, उन का कोई अन्त नहीं, और उन में से जो हमें देता है, उन का भी कोई अन्त हीं ।

अंतु न वेखणि सुणणि न अंतु ।

परमात्मा की रचना में देखने और सुनने वाली वस्तुओं का कोई हिसाब नहीं।

अंतु न जापै किआ मनि मंतु ।

इस बात का भी कोई पता नहीं मिलता कि उस के मन में किसी कार्य के करने का क्या मन्तव्य होता है, अर्थात् कौन सा मनोरथ मन में रख कर कोई कार्य करता है ।

अंतु न जापै कीता आकारु ।
अंतु न जापै पारावारु ।

जो सृष्टि उस ने बनाई है, उस का अन्त नहीं मिलता, और न ही उस के आर पार का पता लगता है ।

अंतु कारणि केते बिललाहि ।
ताके अंत न पाए जाहि ।

इस अन्त को पाने के लिये कई बिलखते हैं, पर उस का अन्त नहीं पा सकते ।

इहु अंतु न जाणै कोइ ।
बहुता कहीऐ बहुता होइ ।

इस अन्त का किसी को पता नहीं। जितना भी अधिक

देखें, उस से भी अधिक होता है । अर्थात् अपनी ओर से जितना भी अधिक अन्दाज़ा उस की बड़ाई का बतलावें, कमती ही निकलता है इस लिये केवल इतना हीं कहना बनता है कि—

बडा साहिबु ऊचा थाउ ।
ऊचे उपरि ऊचा नाउ ।

वह स्वामी बड़ा है, उसकी पदवी ऊँची है, और उस का प्रकाश ऊँचे से ऊँचा है।

एवडु ऊचा होवै कोइ ।
तिसु ऊचे कउ जाणै सोइ ।

यदि कोई उस जितना बड़ा हो, तो ही वह उस बड़े को समझ सकता है।

जे वडु आपि जाणै आपि आपि ।

जितना बड़ा वह है, वह आप ही जानता है, और कोई नहीं जान सकता ।

नानक नदरी करमी दाति ॥ २४ ॥

हे नानक (हमें तो इतना ही पता है) जो वस्तु हमें मिलती है, वह उसी की बख़शिस और कृपा से मिलती है।

२५

इस पौड़ी में बख़शिसों का वर्णन है । पहिले तो बाह्य

सृष्टि में बहुलता को देख कर कर्तार की बड़ाई का स्मरण होता था। अब गुरू जी उन असंख्य वस्तुओं की ओर ध्यान दिलाते हैं जो हमें परमात्मा से प्राप्त होती हैं। इस पौड़ी में केवल उन वस्तुओं का वर्णन है जो सांसारिक पक्ष की होती हैं; अर्थात् जिन से हमें भौतिक सफलता होती है। आत्मिक सफलता वाले गुणों का अगली पौड़ी में ज़िकर है। गुरु साहब के विचार की सुन्दर तरतीब का सबूत एक और भी है। वह यह कि इस पौड़ी में जो सांसारिक पदार्थों का दिग्दर्शन कराया गया है उन्हें एक एक कर के पहले खाने पीने की साधारण वस्तुओं का वर्णन है, जो न केवल बड़े बड़े योद्धाओं को मिलती हैं, बल्कि उन्हें भी जो पदार्थों का विकार युक्त होकर विषयों में प्रयोग करते हैं और भोग भोग कर चूर हो जाते हैं, वा पदार्थ लेते हुए भी कृतघ्न होते हैं, वा कुछ समझ नहीं रखते। यह देख कर कहना पड़ता है कि परमात्मा पदार्थ देने में अपने लिए कोई लालच आदि नहीं करता। अर्थात्, वह यह विचार नहीं करता कि जो मनुष्य मुझे धन्यवाद से स्मरण करेंगे उसे ही दूंगा, और दूसरे मूर्खों कृतघ्नों वा गंवाने वालों को नहीं दूँगा। यह साधारण बख़शिस बतला कर गुरु जी उन पदार्थों का वर्णन करते हैं जिन्हें मनुष्य के लिए बख़शिसें समझ कर मानना कुछ कठिन है, जैसे दुख भूख की मार। इस को ऊंचे आदर्श वाला मनुष्य ही बख़शिस कहेगा। अन्त

को उस बख़शिस का वर्णन करते हैं जो सांसारिक पदार्थों में सब से ऊँचा है, अर्थात् बन्दी मोचन वा आज़ादी। जिस के बख़शिस होने की सूझ क़ौमों को बहुत पीछे आया करती है।

बहुता करमु लिखिआ न जाइ ।

परमात्मा की बख़शिस बहुत है, लिखी नहीं जा सकती। बस इतना ही कह सकते हैं कि—

वडा दाता तिलु न तमाइ ।

वह बड़ा है। उसे तिल भर भी लोभ नहीं। वह देने में मुक्तहस्त है। वह यह विचार कर देने से नहीं रुकता कि मनुष्य इन पदार्थों को गँवायगा वा अकृतज्ञ होगा। तीसरी पौड़ी में भी पदार्थ देने का वर्णन करते हुए परमात्मा को "बेपरवाहु" कहा है।

केते मंगहि जोध अपार ।

कितने ही योद्धा, जिन के पराक्रम का कोई अन्त नहीं, उस दाता से मांगते हैं। योद्धाओं का वर्णन इस लिये आया है कि लोग यह न समझ लें कि जो लासानी बहादुर होते हैं। वे पदार्थ अपने बल से ले लेते हैं, वा वह स्वतन्त्र होते हैं। नहीं उन्हें भी परमात्मा के आगे हाथ फैलाना पड़ता है।

केतिआ गणत नहीं वीचारु ।

ऐसे और कितने हैं, जिन की गणना का अनुमान नहीं कर सकते।

केते खपि तुटहि बेकार ।

कितने ही विकार युक्त मनुष्य पदार्थों को भोग भोग कर उकता जाते हैं और अपना स्वास्थ्य बिगाड़ लेते हैं । "खपणे" का अर्थ भोग द्वारा शरीर का क्षीण करना है, और टूटने का अर्थ निस्सार हो जाना वा हार कर टूट जाना है । "कूड़ु मीआ कूड़ु बीबी खपि होए खारू" का भी भाव यही है कि पुरुष स्त्री परस्पर विषय भोग कर शरीर को तोड़ कर नष्ट कर लेते हैं । "चोरा जारा तै कूड़िआरा खाराबा वेकार" में भी "वेकार" से भाव विचार युक्त वा विषयई है ।

केते लै लै मुकरू पाहि ।

कई वस्तुएं ले ले कर पीछे मुन्कर हो जाते हैं । भाव, यह कि हमें परमात्मा से कुछ मिला ही नहीं । पर "अकिरतघणा नो पालदा प्रभ नानक सद बखसिंदु" (श्री राग म० ५)

केते मूरख खाही खाहि ।

कितने ही मूढ़ पुरुष खाते ही खाते आये हैं ।

केतिआ दूख भूख सद मार ।
इहि भि दाति तेरी दातार ॥

कितनों को सदा दुःख और भूख की मार पड़ी रहती है । हे दाता ! यह मार भी तेरी बख़शिश ही है । "मार" से

भाव लगतार आभाग्यता से है, जो परमात्मा की ओर से आ पड़ती है। दुःख को "आसा दी वार" में दारू कहा है और सुख को रोग कहा है। "बिखै राज ते अन्धला भारी। दुखि लागै राम नाम चितारी" (गौरी म० ५)

बंदि खलासी भाणै होइ।

स्वतन्त्रता परमात्मा की आज्ञानुसार मिलती है। यहाँ "बंदि खलासी" एक संयुक्त शब्द है। इस का अर्थ बन्धन से छुटकारा "है। बन्धन और मुक्ति नहीं। भाई गुरुदास जी ने छठी वार में " बन्द खलासी बन्दगी "और ३६ वीं वार में" "साध संगति मिलि बन्द खलासी" करके प्रयोग किये हैं।

होर आखि न सकै कोइ।

परमात्मा के बिना कोई और इस विषय (मुक्ति का स्वतन्त्रता देने) में कुछ नहीं कह सकना। अर्थात् और किसी की सलाह या सिफ़ारिश नहीं चलतो।

जे को खायकु आखणि पाइ।
उहु जाणै जे तीआ मुहि खाइ॥

यदि कोई मूर्ख इस विषय में बात करने का साहस करे तो वही जानता है कि इस अनुचित कार्य के पलटे उस केमुंह पर कितनी पड़ती हैं।

आपे जाणै आपे देइ ।
आखहि सि भि केइ केइ ॥

परमात्मा स्वयमेव हमारी आवश्यकताएं समझ लेता है और स्वयमेव वह आवश्यकतायें पूरी करता है। यह बात भी कोई विरले ही कहते हैं, अर्थात् ऐसे कृतज्ञ व्यक्ति कम ही होते हैं जो मानते हैं कि परमात्मा हमारी आवश्यकतायें जानता और उन के अनुसार देता है। पर बड़ाई कृतज्ञ होने में ही है कि—

जिसनो बखसे सिफति साल
नानक पातिसाही पातिसाहु ॥ २५ ॥

जिस कृतज्ञता में परमात्मा के गुणगान करने की बख़शिस मिली है, वह (हे नानक) महाराजों का भी महाराजा है।

२६

अंत में आचरण के ऊंचे गुणों की दातों का वर्णन करते हैं। पहिली तीन तुकों में एक दुकानदार का अलङ्कार प्रयोग करते हैं। एक व्यवहार होता है। उस व्यवहार के करने वाले व्यापारी होते हैं। जिस वस्तु का व्यवहार करें उस का भंडार होता है। फिर उस वस्तु के ग्राहक होते हैं, जो उसे खरीदने के लिये दुकान पर आते जाते हैं। गुरु जी गुणों के व्यापार व्यापारी, भंडार और ग्राहकों का वर्णन करते हुए उन्हें अमूल्य

कहते हैं। फिर उन गुणों में से सब से बड़ा गुण अर्थात् 'भाय' या प्रेम का वर्णन करते हैं और बतलाते हैं कि यह दात भी अमूल्य है और इस प्रेम में समाने या लीन होने वाले भी अमूल्य हैं। परमात्मा ने गुण तो बना दिये जो मनुष्य ने अपने रहन सहन में वर्तने हैं, पर साथ ही यह आवश्यक था कि हमारे वर्तने के लिये कोई "धर्म" वा "नियम" भी बांध देता जिस के अनुसार हम इन स्वाभाविक गुणों को सीमा में रख कर भली प्रकार वर्त सकें—जैसे "प्यार" का ही गुण लीजिये। यह गुण प्रत्येक प्राणी के भीतर डाल दिया है। इस के साथ हम माता, पिता, बहिन, भाई, स्त्री आदि से प्रेम पाते हैं। पर यदि परमात्मा कोई मर्य्यादा न बान्धता तो यही प्रेम कई अनर्थों और कुकर्मों का कारण होता। परमात्मा ने यह नियम बना दिया है कि इस गुण को एक सीमा में वर्ते और संसार की सब स्त्रियों में से केवल एक से ही पत्नी वाला प्रेम करें। अन्य को मा, बहिन या लड़की के रूप से ही जानें इसी तरह सत्य, भय, धैर्य, उपकार आदि अन्य गुणों को भी सफल करने के लिये परमात्मा ने अपना नियम बान्ध दिया है। फिर उस नियमानुसार हमारे कर्मों की जांच पड़ताल के लिये एक कचैहरी भी बना दी है। अर्थात् इन नियमों को हमारे ऊपर प्रयोग करने के लिये एक प्रबन्ध किया है, जिस का स्वरूप "आसादी वार" की " लिखि नावे धरमु बहालिआ" वाली

पाड़ी में दिया हुआ है। हमारे कर्मों को तौलने के लिये वह ईश्वरीय नियम को कितना पूरा करते हैं। परमात्मा ने तोल और माप नियत किए हुए हैं। जो पूरे उतरते हैं, वे प्रमाण समझे जाते हैं और जो कम उतरते हैं, उन के लिए दूसरा प्रबन्ध किया हुआ है। जो न्याय चाहते हैं, उन पर क्षमा किये जाने का "फ़र्मान" की लेखनी चलती है और जो बख़शिस चाहते हैं, उन पर कर्म की क़लम चलती है।

यह सब प्रबन्ध बड़ा अमूल्य है,। परमात्मा की बड़ाई की पृथक् पृथक् झांकियें बतला कर फिर गुरु जी कहते हैं कि परमात्मा बहुत ही बड़ा है। यह नहीं बतला सकते कि कितना बड़ा है। चाहे बड़ी बड़ी पुस्तकों और बड़े बड़े पुरुष उस का वर्णन करते रहे हैं। वह पुरुष बड़ा मूर्ख है जो यह कहे कि मैं जानता हूं कि परमात्मा कितना बड़ा है।

अमुल गुण अमुल वापार।

परमात्मा के किये मानुषिक आचरण के गुण अमूल्य हैं और उन गुणों का लेन देन भी अमूल्य है।

अमुल वापारीए अमुल भंडार।

अमूल्य ही हैं इन गुणों का व्यवहार करने वाले और अमूल्य ही हैं उन के पास गुणों के भण्डार।

अमुल आवहि अमुल लै जाहि।

अमूल्य हैं वे जो इन गुणों के लिये दुकान पर आते हैं और गुणों को ख़रीद कर ले जाते हैं, अर्थात् गुणों के ग्राहक बनते हैं।

अमुल भाइ अमुला समाहि।

उन गुणों में से प्रेम का गुण अमूल्य है और अमूल्य हो वे हैं जो इस में समाते हैं, वा इसे निभाते हैं।

अमुलु धर्मु अमुलु दीबाणु।

परमात्मा का नियम अमूल्य है और अमूल्य है वह न्यायालय जिस में यह नियम वर्ते जाते हैं।

अमुलु तुलु अमुलु परवाणु।

अमूल्य वे तोल और मान हैं, जिन से हमारे कर्म तोले जाते हैं, कि वे परमात्मा के नियम को कितना पूरा करते हैं।

अमुलु बखशीश अमुलु नीसाणु।

अमूल्य परमात्मा का पापियों को क्षमा कर देना है और अमूल्य ही उसकी परवानगी का चिन्ह पड़ना है।

अमुलु कर्मु अमुलु फुरमाणु।

अमूल्य उस की बख़शिश का गुण है (जिस से वह पापियों को क्षमा कर देता है) और अमूल्य ही उस की आज्ञा है (जिस से वह अपने नियम का प्रयोग करता, और जिस के अनुसार वह मनुष्य कर्मों की जांच पड़ताल करता है)

अमुलो अमुलु आखिआ न जाइ ।

वह अमूल्य ही अमूल्य है, और उस का कथन नहीं हो सकता ।

आखि आखि रहे लिव लाइ ।

जिन्हों ने कहने का यत्न किया वे कह कह कर अन्त को चुप हो गये ।

आखहि वेद पाठ पुराण ।
आखहि पड़े करहि वखिआण ॥

वेदों की ऋचाएं और पुराण उसे कहते हैं, और वे पढ़े हुए (पंडित) कहते हैं, जो वेदों और पुराणों की व्याख्या करके समझाते हैं ।

आखहि बरमे आखहि इंद ।
आखहि गोपी तै गोविन्द ॥
आखहि ईसर आखहि सिध ।
आखहि केते कीते बुध ॥

कई ब्रह्मा और इन्द्र, गोपियें और काहन, शिवजी और गोरखनाथ, आदि योगीश्वर और परमात्मा के बनाये हुए कई बुद्ध उसे कहते हैं । जब कई साधन कर कर के मनुष्य पूरे

ज्ञान को प्राप्त कर लेता है, तब वह "बुद्ध" कहाता है। महात्मा बुद्ध का भी असली नाम और (कुमार सिद्धार्थ) था, पर ज्ञान प्राप्त करने पर वह "बुद्ध" कहाये। सिद्ध और नाथ जैसे बुद्ध भी एक पद का नाम है। ऐसे कई बार ऊँची पदवी पर पहुँच कर परमात्मा से ही मुन्कर हो जाते हैं, इस लिये गुरु जी कहते हैं कि वे परमात्मा के किये हुए हैं, चाहे वे उसे भुला ही दें।

आखहि दानव आखहि देव।

उसे दैत्य और देवता भी कहते हैं।

आखहि सुरिनर मुनिजन सेव।

उसे महात्मा पुरुष और ऋषि लोग सेवन करने वाले कहते हैं।

यहां "सुरि" का अर्थ देवता नहीं है। "देव" पिछली तुक में आचुका है। सुरिनर = सुरीनर। मुनिजन = मुनीजन। "सुरि" और "मुनी" विशेषण हैं, "नर" और "जन" के। "सुरिनर विरति पखि करमी नाचै मुनिजन ज्ञान वीचारी।" (गूजरी म० ३)। "जाकी भगति करहि जन पूरे मुनिजन सेवहि गुर वीचारि" (गूजरी म० ३)। "सुरिनर, देव, असुर त्रै गुनीआ" (आसा म० ५)। जहां देवता के अर्थ वाला "सुर" स्वतन्त्र नाम होता है, वहां इस के "र" के साथ "ि" नहीं होती—"जाकी सेव सिध साधिक सुर असुर" (सवैये म० ४)। नर ते सुर होइ जात निमख में" (गौंड नामा)।

केते आखहि आखणि पाहि ।
केते कहि कहि उठि उठि जाहि ॥

कई कह रहे हैं, कई कहने लगे हैं और कई कहते कहते उठते जाते हैं ।

एते कीते होरि करेहि ।
ता आखि न सकहि केई केइ ॥

ये जितने उस ने बनाये हैं, यदि इतने ही और बनाये तो भी कोई कुछ नहीं वर्णन कर सकेगा ।

जेवडु भावै तेवडु होइ ।
नानक जाणै सचा सोइ ॥

जितना बड़ा वह चाहे उतना ही बड़ा वह हो सकता है । हे नानक ! वह सत्य स्वयं ही जानता है कि कितना बड़ा है ।

जे को आखै बोलु विगाडु ।
ता लिखिऐ सिरि गावारा गावार ॥२६॥

पर यदि कोई बकवासी पुरुष कहने लग जाय कि परमात्मा इतना बड़ा है, तो उसे मूर्खों का बड़ा मूर्ख समझना चाहिये । "बोलुविगाडु" के लिये देखो परिशिष्ट नियम ३ ।

२७

अब तक गुरु जी ने परमात्मा की बड़ाई युक्तियें देकर दृढ़ कराई है। अब उस बड़ाई का चित्र हमारे सामने सीधे तौर पर लाते हैं।

२१ वीं पौड़ी में बतलाया गया था कि कैसे परमात्मा हमारी दिमाग़ी इख़लाक़ी और रूप की सब भूखों को पूरा करने वाला है। फिर परमात्मा की बड़ाई बतानी प्रारम्भ की थी। उस बड़ाई को पहले हमारे दिमाग़ी और इख़लाक़ी भावों द्वारा दृढ़ किया था। अर्थात् २२ वीं, २३ वीं और २४ वीं पौड़ी में हमारी दिमाग़ी शक्ति को चकित किया था। फिर २५ वीं और २६वीं पौड़ी में हमारे इख़लाक़ी भावों को चकिता किया था, अब २७ वीं पौड़ी में हमारे रूप परखने वाले भावों द्वारा परमात्मा की बड़ाई बतलाते हैं।

चतुर सरकारें अपने सम्राट के लिये लोगों में राज भक्ति उत्पन्न करने के लिये भी ऐसे ही उपाय प्रयोग करती हैं। एक तो सारे राज्य के विस्तार को दिखा कर लोगों को विस्मित किया जाता है, कि वह इतनी बड़ी है उस पर सूर्य कभी नहीं डूबता। फिर देशों में रेल, डाक, तार आदि के विस्मित करने वाले प्रबन्ध बतला कर फिर उस राज्य की बड़ाई को दृढ़ कराया जाता है। फिर बादशाह के फैलाये सुख, शांति, अच्छे नियम और न्याय की ओर संकेत करके लोगों को कृतज्ञ बनाया जाता है। यह प्रेरणासमझ और

इख़लाक़ी भावों के द्वारा होती है। पर इनके अतिरिक्त एक और ढंग भी प्रयोग किया जाता है, वह यह कि कभी कभी बड़े दरबार करके बादशाह की प्रत्यक्ष बड़ाई दिखाई जाती है। उस दरबार में बादशाह के हज़ूर देश देशान्तरों के राजे और महाराजे अपने सारे ठाठ बाठ से हाज़र होते हैं और लोग देख कर चकित होते हैं कि जिन राजाओं को अपनी रियासत में महाराजा कह कर सम्बोधन करते हैं, वे भी किसी और शक्ति के आगे झुकते हैं। यह दृश्य आंखों से देखने के कारण वास्तविक रीति पर लोगों के दिलों में सम्राट की शान और बड़ाई का सिक्का बैठ जाता है। गुरु जी भी मनुष्यों के भीतर बादशाहों के बादशाह परमात्मा की बड़ाई का सिक्का पक्की तरह बैठाने के लिये एक राजसभा (दरबार) रचना करते हैं, जिस में पृथ्वी आकाश की सब शक्तियों को परमात्मा के अधीन करके बैठाते हैं। जिन देवी देवताओं को लोग मारने जिलाने और पालने वाले अधिकार रखने वाले मानते हैं वे भी उस के द्वार पर हाथ जोड़े खड़े और निमाने होकर गुण गा रहे हैं। "ब्रह्मा विसनु महेसु दुआरै। उभे सेवहि अलख अपारै। होर केती दरि दीसै बिललादी मै गणत न आवै काई हे" (मारू सोलहे म० १)। जिन्हें लोग अवतार पैग़म्बर, माने बैठे हैं, वे भी परमात्मा की आज्ञा में ही अपना कर्तव्य पालन करते हैं। "ब्रह्मा विसनु महेसु उपाइअनु हुकमि कमावनि कारा,

पंडित पड़ड़े जोतकी न बूझहि बीचारा" (म० ३ वार रामकली)। "जिह कोटि इन्द्र नृपार। कई ब्रह्म बिसनु बिचार। कई राम कृसन रसूल। बिन भगति को न कबूल।" (म० १०) और देखो आसा म० ५ छंत घरु ६ (छंत दुसरा) और मारू म० ४ घरु २।

सो दरु केहा सो घरु केहा।
जितु बहि सरबे समाले॥

हे परमात्मा! तेरा वह घर और उसका द्वार कैसा होगा, जहां तू बैठ कर सारी सृष्टि की सार लेता है।

वाजे नाद अनेक असंखा केते वावणहारे।

वहां असंख्य और कई प्रकार के बाजे बज रहे हैं और कितने उन बाजों के बजाने वाले हैं।

केते राग परी सिउ कहीअनि केते गावनहारे।

कितने ही वहां राग रागिनियों सहित गाये जा रहे हैं। और कितने ही उन्हें गाने वाले हैं। इन गाने वालों का व्योरा इस से आगे आता है। ये गाने वाले कई भावों से परमात्मा के हजूर उस की प्रशंसा कर रहे हैं। इन भावों को ऊपर बाजे और राग कहा है। कोई अपने रूप द्वारा गा रहा है; कोई अपनी विवशता और कोई अपने बल द्वारा गा रहा है, कोई अपनी विद्वता और कोई अपनी पवित्रता द्वारा गा रहा है; अर्थात् परमात्मा के गुणों का प्रकाश कर रहा है।

गावहि तुहनो पउणु पाणी बैसन्तरु
गावै राजा धर्मु दुआरे ॥

जल वायु और अग्नि तुझे गायन करते हैं। धर्मराज तेरे द्वार पर बैठा गा रहा है।

गावहि चितु गुपतु लिखि जाणहि
लिखि लिखि धर्मु वीचारे ॥

धर्मराज के मुनीम चित्रगुप्त भी तेरा गायन करते हैं, जो मनुष्यों के कर्मों को लिखना जानते हैं और जिनके लिखे पर धर्मराज जीवों की गति का निपटारा करता है।

ये बातें हिन्दुओं ने धर्मराज और चित्रगुप्त के विषय में मानी हुई हैं। विष्णु इन्द्र और उस के देवताओं का अखाड़ा भी ऐसे ही समझो। गुरु जी ने लोगों की मानी हुई हस्तियें लेकर बतलाया है कि यदि कोई ऐसे लोग हुए हैं तो वह परमात्मा के आधीन ही हुए हैं। उनका भी हमारी तरह यही कर्तव्य है कि सेवा करना और गुण गाना।

गावहि ईसरू बरमा देवी सोहनि सदा सवारे।

शिवजी ब्रह्मा और देवी जो तेरे परिष्कृत किये हुए हैं वे भी तेरा ही गुण गान करते हैं।

गावहि इंद इंदासणि बैठै देवतिआ दरि नाले।

अपने सिंहासनों पर बैठे इन्द्र भी अपने देवताओं के दलों सहित तेरा गुण गा रहे हैं।

गावहि सिध समाधी अंदरि गावनि साध विचारे।

समाधियों में लगे हुए (गोरख आदि) योगीश्वर और विचारों में लयलीन साधु लोग भी तेरी ही शोभा कर रहे हैं।

गावनि जती सती संतोखी गावहि वीर करारे।

यति, दानशील, संतोष वाले और कड़े शूरवीर तेरा ही गुण गा रहे हैं।

गोरख, शुक, लक्ष्मण, हनुमान, भैरव आदि बिन्दु रखने वाले यती गिने जाते हैं। देखो भाई गुरदास, वार ३८।७। हरिश्चन्द्र राजा नल आदि सती और हनुमान आदि वीर कहाते हैं।

गावनि पंडित पड़नि रखीसर जुगु जुगु वेदा नाले

बड़े बड़े ऋषि अपने, अपने युग वाले वेदों से और पंडित जो उन्हें पढ़ते हैं, तेरा गुण गान करते हैं।

प्रत्येक युग का पृथक् पृथक् वेद माना गया है। देखो "आसादी वार" १३ पौढ़ी के श्लोक और भाई गुरदास जी की पहली वार।

गावहि मोहणीआ मनु मोहनि सुरगा मछ पइआले।

स्वर्गों पातालों और सात लोक की सुन्दर स्त्रियें जो मन

को सुहाती हैं, वे भी तेरा गायन करती हैं। अर्थात् तेरी सुन्दरता को प्रकट करती हैं।

गावनि रत्न उपाए तेरे अठसाठि तीर्थ नाले।

तेरे उत्पन्न किये हुए (चन्द्र, धनतंत्र कामधेनु आदि १४) रत्न अठासठ तीर्थों सहित तेरी शोभा बतला रहे हैं।

गावहि जोध महाबल सूरा गावहि खाणी चारे।

बड़े शक्तिशाली योधा तेरा गायन करते हैं। अंडज, जेरज, सेतज, उद्भिज] चारों खनि भी तेरा गायन करती हैं।

गावहि खंड मंडल वरभंडा करि करि रखे धारे।

सारा ब्रह्माण्ड और उसके भाग देश और लोक जो तू ने बना कर सहारा दे रक्खे हैं तेरा गुण गान करते हैं।

सेई तुधु नो गावहि जो तुधु भावनि रते तेरे भगत रसाले।

तुझे वही गाते हैं जो तुझे अच्छे लगते हैं और जो तेरे रसिक भक्त जन हो कर तेरे प्रेम में सने होते हैं। जो तुधु भावनि = जो तेरी आज्ञा वा इच्छा के पात्र हों; जिन को तू कृपा करके अपने भाने में ले आवें।

होरि केते गावनि से मै चिति न आवनि नानकु किआ वीचारे।

और कितने ही तेरा गुण गान करते हैं। पर वे मुझे स्मरण नहीं आते। नानक उनके विषय में और क्या कहे?

सोई सोई सदा सचु साहिबु साचा साची नाई।

वह सच्चा स्वामी सदा वैसा ही रहता है, अर्थात् सच्चा और सच्चे नाम वाला। और जितनों के नाम ऊपर लिये हैं, वे सदा एक रस नहीं रहने वाले और न उन की बड़ाई साँची है।

है भी होसी जाइ न जासी रचना जिनि रचाई।

जिस ने सृष्टि बनाई है, वही अब है और आगे भी होगा। चाहे सारी रचना नष्ट हो जाय, वह आप नष्ट नहीं होगा।

रंगी रंगी भाती करि करि
जिनसी माइआ जिनि उपाई।
करि करि वेखै कीता आपणा
जिव तिस दी वडिआई॥

जिस ने रंग बिरंगे कई भांति और नमूनों की सृष्टि रची है, वह अपनी रचना को बना बना कर अपनी बड़ाई अनुसार आप ही उसकी सम्हाल कर रहा है। "अपनी बड़ाई अनुसार" से भाव अपने बिरद अनुसार है। अर्थात् जीवों की सम्हालना,—कंजूसी, तंगदिली वा ईर्षा से नहीं करता किन्तु

उसी प्रकार गम्भीर, वेपरवाह और क्षमाशील हो कर करता है जैसे इतने बड़े स्वामी के अनुरूप है।

जो तिसु भावै सोई करसी हुकमु न करणा जाई।

जो कुछ उसे अच्छा लगता है, वही करता है; उसे यह नहीं कह सकते कि यूँ कर और यूँ न कर।

सो पातिसाहु साहा पातिसाहिबु
नानक रहणु रजाई ॥ २७ ॥

वह राजा राजाओं का भी स्वामी है। हे नानक! हमें तो उसकी इच्छा में रहना ही बनता है।

२८

"असंख के उपरान्त परमात्मा के बड़े होने पर बल दिया था फिर "सोदर" के अन्त में बतलाया था कि परमात्मा सदा एक रस रहने वाला है, सच्चा साहिब है और अपनी इच्छा का आप ही स्वामी है। परमात्मा के इन गुणों के न मानने कर के लोगों में कई भेद और सम्प्रदायें बन जाते हैं। कई सम्प्रदायों में यह माना हुआ है कि परमात्मा अपनी आज्ञा समय समय पर बदलता आया है। "अंजील" की "पुरातन साक्षि" में सुन्नत करना ईश्वरीय आज्ञा लिखा है, पर "नई साक्षि" को मानने वाले सुन्नत को ईश्वरीय आज्ञा नहीं मानते। भारत में भी किसी समय परमात्मा का एक अवतार ज्ञान को मुक्ति का साधन बतलाता है; और कुछ

समय पीछे उसी परमात्मा का अवतार भक्ति को मुख्य साधन बतलाता है। इसी लिए कभी कोई सम्प्रदाय बन जाता है, और कभी कोई। आज्ञा एक परमात्मा की ही बतलाते हैं। निर्णय कैसे हो? गुरु जी इस झगड़े को यूं निपटाते हैं कि यदि परमात्मा सच्चा है और सदा "सोई सोई" रहता है, कुछ और नहीं बन जाता, तो आवश्यक है कि उस का जुगु जुगु एको वेसु" हो; अर्थात् प्रत्येक युग में उस की आज्ञा एक हो। यह नहीं कि आज ज्ञान और कल भक्ति बतलाये। इसी लिये गुरु जी ने कहा है—"जुगि जुगि गुरमुखि एको जाता विणु नावै मुकति न पाई" (भैरउ म० १) "जो जो तरिओ पुरातनु नवतनु भगति भाइ हरि देवा" (सारग म० ५)। ऐसा मानने से सम्प्रदाय नहीं बन सकते।

क्योंकि गुरु जी के समय उत्तर भारत में योगियों के वेश का बहुत बल था इस लिए पृथक् पृथक् वेशों वा श्रेणियों का नाम लेते ही योगियों की ओर ध्यान जा पड़ता है। मुन्दरां पतु (खप्पर), झोली, विभूति, खिंथा, दण्ड आदि योगियों के चिन्ह वा वर्तने की वस्तुयें थीं। उनके स्थान में गुरु जी वे गुण बतलाते हैं जिन से योगी लोग विशेषतः रहित हैं।

मुंदा संतोखु सरमु पतु झोली
धिआन की करहि बिभूति ॥

संतोष की मुन्द्रायें पहिन कर परिश्रम का खप्पर और झोली बना, और परमात्मा को सदा स्मरण रखने की विभूति लगा। कानों को छेदन करके मुन्द्रां पहिनने के स्थान में अपनी बढ़ती इच्छाओं का दमन करके धैर्य्य संतोष में रहो। दर दर झोली फ़ैलाने के स्थान में उद्यम वा परिश्रम कर के रोटी कमा कर खाओ। शरीर पर राख इस लिये मलते हो कि ध्यान शरीर के सवारने और पलोसने में लग कर आत्मिक उन्नति की ओर से उखड़ न जाय, सो यह मनोरथ तो भली प्रकार तब ही सिद्ध होगा जब ध्यान को परमात्मा में लगा लोगे। प्रत्येक समय परमात्मा को सर्वव्यापक समझने से मन शरीर के व्यर्थ बन्धनों से बचा रहेगा। शरम = श्रम, मेहनत = उद्यम; "इया डेरा कउो स्रम करि घाले" (बावन अखरी म० ५) "स्रमु करते दामु आढ कउ ते गना धनीता" (बिलावल म० ५) पतु = पतर; यह योगियों के बर्तन—खप्पर या चिप्पी के लिये वर्ता जाता है। "पतु वीचारु, ज्ञान मति डंडा, वर्तमान बिभूतं (आसा म० १) "मुद्रा मोनि, दया करि झोली, पत्रका करहु बीचार रे" (कबीर रामकली)। योगियों की किंगुरी की डंडी के साथ जो दो तूम्बे लगे होते हैं उन्हें भी "पत" ही कहा है "भउ भाउ दुइ पत लाइ जोगी इहु सरीरु करि डंडी" (राम कली म० ३)। जिस "पति" का अर्थ मान वा श्रद्धा है, उस के "त" के साथ सदा "ि" आती है। देखो परिशिष्ट नं० ७।

खिंथा कालु कुआरीकाइआ जुगति डंडा परतीति।

तेरी झोली यह हो कि मरना है, तेरा रहन सहन यह हो कि देह को कुमारियों की तरह पवित्र रखना है, और डंडा निश्चय का हो।

योगी लोग एक लम्बी रङ्ग बेरङ्गी खुली जैसी चोली पहनते हैं, यह बतलाने के लिये कि हम जीते जी कफ़न डाले फिरते हैं। पर यदि मन में मृत्यु याद रहे तो इस कफ़न डालने का कुछ भी आवश्यकता नहीं।

"जुगति" योगियों की रहनी को कहते हैं। जिस में विवाह न करना और भ्रमण करना आदि सम्मिलित है। पर ऐसी रहनी में आचरण की पवित्रता कम ही रहती थी। इस लिये गुरू जी कहते हैं कि शरीर को विषय विकार से यूं पवित्र रक्खो कि जैसा अविवाहिता स्त्री रखती है। यूं समझो कि तुम कुंमारी स्त्री हो जिसे परम पिता परमात्मा ने विवाहना है। जब तक अपने मायके (इस संसार में) रहना है तब तक अपने आपको सारे बेगाने प्यारों और विषयों से शुद्ध रखना है, ताकि पति परमेश्वर के साथ विवाहने योग्य रहे। डंडा हाथ में एक सहारा जैसा होता है। उस के स्थान में परमात्मा के विश्वास का सहारा पकड़ो।

आई पंथी संगल जमाती मनि जीतै जगु जीतु।

सारे मनुष्यों को अपने जैसा साथी समझो। यह तुम्हारा "आई पन्थ" में होना होगा। मन को जीतने से सारा

संसार विजय हो जाता है। योगियों के १२ सम्प्रदायों में "आई पन्थ' भी एक सम्प्रदाय है। १२ फ़िरके ये हैं—रावल-पंथ, हेतु पंथ, पाव पंथ, आई पंथ, गम्य पंथ, पागल पंथ, गोपाल पंथ, कंथडी पंथ, बन पंथ, ध्वज पंथ, चोली पंथ, और दास पंथ। आई पंथ वाले के नाम के पीछे 'आई" होता है, जैसे, "बाज़ गुंदाई"। इस पंथ वाले आपस में सहन शीलता और रवादारी से रहते हैं। क्योंकि गुरू जी ने योगियों को उचाट जमाती होने की जगह "सगल जमाती" होना सिखाना था, इसलिए "आई पंथ" का उदाहरण लिया है। भाव यह है कि संसार के लोगों से उच्चाट हो कर पृथक् पृथक् दल बनाने की जगहें सब से मिल कर बर्तना चाहिए। सब को हम जमायती समझना चाहिये। "एेक दरिसटि करि समसरि जाणै जोगी कहीऐ सोई" (सूही म० १)। "मनि जातै" में मन को जीतना बतलाया है, मन को मार देना वा उसका अभाव ही कर देना नहीं बतलाया, क्योंकि "मनका सुभाउ मनहि बिआपी। मनहि मारि कवन सिधि थापी" (कबीर ग); यह मन का ही स्वभाव है कि मन के पीछे पड़ जाय; अर्थात् मन की ताड़ना करने के लिये मन ही विद्यमान है। शरीर के किसी और अंग की पहुंच मन तक नहीं, इसलिये यदि इस मन का ही अभाव कर दिया तो क्या हुआ? मन को जीतने से भाव मन की तृष्णाओं पर अधिकार करना है। जब

हम "मैं हूं" लोभ, और ईर्षा से खाली होकर मोठे, निमाने और दूसरों के अधिकारों का सत्कार करने वाले हो जायेंगे तो सारे लोग हमारे होजायेंगे। "गुरमुखि मन जिणि जग जिणै आपु गवाइ आप सभ कोई" (भाई गुरदास वार २६)

आदेसु तिसै आदेसु।

आदेस (प्रणाम) उसी को कीजिये जो (आदि ईस) आदि प्रभु है।

योगी लोग एक दूसरे को "आदेस" कहकर प्रणाम करते हैं—"जोगी करनि आदेश मिलि" (भाई गुरुदास, वार २३) गुरु जी कहते हैं कि प्रणाम केवल परमात्मा को करो जो शिवजी से भी पहले का है।

आदि अनीलु अनादि अनाहति जुगु जुगु एको वेसु ॥२८॥

जो सब रचना से पहिले का है; जो बेलाग (पवित्र) है; जिस का कोई आदि नहीं और न मारा जाता है (अर्थात् उसका आदि अन्त नहीं है); जिस का सदा एकही रूप रहता है ।

परमात्मा के "आदि" होने से सिद्ध होता है कि लोगों ने जो परमात्मा के साथ साथ जीव और प्रकृति को भी अनादि माना हुआ था, वह ठीक नहीं, क्योंकि कभी वह भी अवस्था थी जब परमात्मा के बिना और कोई वस्तु नहीं थी। देखो "सुखमानी" की २१वीं अष्टपदी ।

२६

परमात्मा के इस स्वरूप को मानने से योगियों की और कई भूलों का परिशोधन किया जायगा। परमात्मा को ही आदि ईश्वर मानने वालों को उस के बिना और कोई "नाथ" या स्वामी नहीं दिखेगा; और सब जीवों को उसी एक नाथ की इच्छा में ग्रथित देखकर रिद्धि सिद्धियों की चेष्टा भूल जायगी क्योंकि करामातों की चाह परमात्मा की आज्ञा से विद्रोही होने वाली चाहें हैं जिसे परमात्मा की आज्ञा पर निश्चय हो गया है वह तो समझ लेगा कि जो कुछ संसार में हो रहा है, वह संयोग वियोग के नियमानुसार हो रहा है, और जो कुछ किसी को मिलता है, इनके अनुसार ही मिलता है। इस में रिद्धियों सिद्धियों का कोई स्थान नहीं।

भुगति गिआनु दइआ भंडारणि
घटि घटि वाजहि नाद।

भोजन परमात्मा के ज्ञान का करो। जिस से लोभ मोह आदि भूखों को मिटा कर तृप्त हो जाओ। दया को भंडार बांटने वाला बनाओ, जिस से तुम औरों से मांगने की जगह उन्हें देना सीखो। प्रत्येक हृदय में जो परमात्मा के होने का नाद बज रहा है उसे अपनी सिरकी बजती समझो।

आपि नाथु नाथी सभ जाकी
रिधि सिधि अवरा साद ।

परमात्मा आप ही नाथ (स्वामी) है, जिसकी सारी सृष्टि नथी हुई है। करामातें करने की इच्छा एक और ही ओर का स्वाद है जिस का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं। तुम योगियों में जो गोरख नाथ आदि प्रधान मनुष्य नाथ कहाते हैं, वे मालिक नहीं। मालिक तो वह परमात्मा स्वयं है जिसको आज्ञा की काबू की हुई सारी सृष्टि है। तुम भी अपने आपको उसी आज्ञा की रस्सी में ग्रथे हुए मानो। फिर आपको पता लगेगा कि रिद्धियों सिद्धियों वाली चेष्टा परमात्मा के मार्ग से दूर ले जाती है। उस उसी रजा से विरक्त होने का चिन्ह है, क्योंकि "रिद्धि सिद्धि सभु मोहु है, नामु न वसै मनि आइ" (वड हंस म०३)

संजोगु विजोगु दुइ कार
चलावहि लेखे आवहि भाग ॥

मेल और विछोड़े के दोनों असूल संसार का कार्य चला रहे हैं। जो कुछ मिलता है, इन सिद्धान्तों के अनुसार ही मिलता है जैसे ऊपर बतलाया है, सारे जीव सहित मनुष्य के, परमात्मा की उस आज्ञा में ही पिरोये हुए हैं। जब तक मनुष्य यह समझता है, तब तक वह परमात्मा के साथ

जुड़ा हुआ रहता है। पर धीरे धीरे अपनी "मैं हूं" के वश होकर वह आज्ञा की ओर से खिसकता जाता है और अन्त को आज्ञा से टूट कर अरण्य में जा पड़ता है। परन्तु परमात्मा की अपार कृपा ने ऐसा प्रबन्ध किया हुआ है कि मनुष्य चाहे कितना ही बिछुड़ा हुआ हो, जब चाहे फिर जुड़ सकता है—संजोगी मलावडा इनि तनि कीते भोग। विजोगी मिलि विछुड़े, नानक भी संजोग (मारू म० १) ॥ जब हम उत्पन्न होते हैं, अपने साथ कुछ पंजी लेकर आते हैं, शरीर माता पिता से मिलता है। और इस में "नानक लिखिआ नालि" अनुसार परमात्मा ने दो वस्तुएँ डाल दी हुई हैं—एक अपनी ज्योति जिस के प्रकाश से मार्ग कुमार्ग देख लेते हैं, और दूसरी "बड़ाई" (ऊपर जाने की रुची) ये दोनों भाव हमारे भीतर संयोग का कार्य करते और हमें परमात्मा की ओर खींचे लिये जाते हैं। पर हम में अपनी कृति अनुसार नीचे ले जाने वाले भाव भी होते हैं, जो वियोग का काम करते हैं, और हमें परमात्मा से बिछोड़ कर आत्मिक मृत्यु की ओर ले जाते हैं। "मिलि मात पिता पिंडु कमाइआ। तिनि करतै लेखु लिखाइआ। लिखु दाति जोति वड़िआई। मिलि माइआ सुरति गवाई" (मारु म० १)

आदेसु तिसै आदेसु आदि अनीलु।
अनादि अनाहति जुगु जुगु एको वेसु ॥२६॥

अर्थ हो चुके हैं।

३०

उत्तर भारत में योगियों का प्रचार था। पूर्व और दक्षिण में वैश्णवों और शैवों का बल था। अब विष्णु शिव और ब्रह्मा की मान्यता को दूर करते हैं।

जो मनुष्य "आदि अनीलु अनादि अनाहति जगु जगु एको वेसु" वाले परमात्मा को ही सब का नाथ माने और सब संसार में उसी की आज्ञा प्रचलित देखे तो यह असम्भव है कि उस की जगह विष्णु, शिव, ब्रह्मा की त्रिकुटी को माने। इन्द्र को लोग कुदरत में परमात्मा के स्थान काम करते हुए तब ही मानते हैं कि परमात्मा स्वयं प्रकृति में लुप्त होकर वर्तता है, और चाहे वह सब किसी को देखता है, पर उसे कोई नहीं देख सकता। देखो ९ वीं पौड़ी की उत्थानिका।

एका माई जुगति विआई।
तिनि चेले परवाणु॥
इकु संसारी इकु भंडारी।
इकु लाए दीबाणु॥

यह माना जाता है कि एक माया किसी प्रकार (केन प्रकारेण) प्रसव हुई, और उस से तीन शिष्य वा पुत्र उत्पन्न हुए। एक संसार रचने वाला ब्रह्मा, एक पालन की सामग्री रखने वाला विष्णु और एक मृत्यु पर शासन करने के लिये न्याया-

लय लगाने वाला शिव। जुगति = रीति (प्रणाली) जैसे "फुलीवास निवास है कित जुगति समाणी" (भा० गुरुदास)। परवाणु=माने वा फर्ज किये जाते हैं, जैसे, लख पुंना परवाणु" (आसा दी वार) अर्थात् जो कर्म पुण्य करके माने हुए हैं।

जिव तिसु भावै तिवै चलावै।
जिव होवै फुरमाणु॥

(पर वास्तव में बात यह है कि) परमात्मा स्वयं ही जैसे चाहता है और अपनी आज्ञा करता है, वैसे ही संसार को चलाता है अन्य कोई चलाने वाला नहीं है। ब्रह्मा बिसनु महेसु इक मूरति आपे करता कारी' (रामकली म० १)। फिर लोगों ने इन देवताओं के अस्तित्व क्यों मान लिये ? वह इसलिये कि-

उहु वेखै ओना नदरि न आवै।
बहुता एहु विडाणु॥

परमात्मा उन्हें देखता है पर वह आप उन्हें नहीं दीखता। बहुत तो यही बात लोगों को चकित करती है, कि किस प्रकार बैठी बैठी कोई शक्ति प्राण निकाल लेती है। इस विस्मय में वे विचार करते हैं कि अवश्य कोई चेतन शक्ति होगी, जो दीखने वाली सृष्टि के पीछे काम कर रही है। पर क्योंकि उन्हें यह भेद विदित नहीं होता कि कैसे एक आत्मिक शक्ति मादी वस्तुओ को आप निर्लेप रह कर चला सकती है, इसलिये

अज्ञता में शिव जैसी कि ऐसी सत्ता मानने लग जाते हैं जो शारीरिक अस्तित्व वाले गुण रखती हो, पर आश्चर्य्य-कर अंश स्थिर रखने के लिये उस अस्तित्व में साधारण मनुष्यों से कुछ अधिक गुण मान लेते हैं।

आदेसु तिसै आदेसु आदि अनीलु।
अनादि अनाहति जुगु जुगु एको वेसु ॥३०॥

अर्थ हो चुके हैं।

३१

वह अदृष्ट होकर संसार के कार्य कैसे चला रहा है?

आसणु लोइ लोइ भडार।

परमात्मा ने लोक लोक में अपना आसन जमाया हुआ है, और साथ साथ ही उस के कोष हैं इस लिये विष्णु की कोई आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि वह अकेले होकर, इस संसार से परे क्षीर समुद्र पर नहीं बैठे हुए। बल्कि जहां जहां भी सृष्टि है वहां परमात्मा स्वयं उपस्थित है और जहां विद्यमान है वहां ही उस के भंडार हैं, कहीं से लाने नहीं पड़ते। उस का अस्तित्व ही भंडार का काम देता है।

जो किछु पाइआ सु एका वार।

जो कुछ परमात्मा ने उन भंडारों में डाला है वह एक वार ही डाला है। वह कभी समाप्त नहीं होता।

करि करि वेखै सिरजणहारु ।

वह स्वयं उत्पन्न करने वाला सृष्टि को बना बना कर उस की सम्हाल करता है। अर्थात् ब्रह्मा वा विष्णु का आवश्यकता नहीं।

नानक सचे की साची कार ।

हे नानक ! उस के कार्य स्थिर रहने वाले होते हैं।

आदेसु तिसै आदेसु आदि अनील ।
अनादि अनाहति जुगु जुगु एको वेसु ॥३१॥

अर्थ हो चुके हैं।

३२

गोरख, शिव, विष्णु, ब्रह्मा आदि की मान्यता के विषय में विचार करके अब गुरु जी कहते हैं कि हम तो केवल एक परमात्मा को ही ध्यावेंगे, चाहे हमारी जिह्वाएं कितनी ही हो जाँय। यह परमात्मा को ध्याना उस के साथ एक होने का साधन है। यह साधन कोई झट पट वाला कार्य नहीं— गुरमुखिपंथ वखाणीऐ अपड़ि न सकै इकतु विखी (भाई गुर०) अर्थात् जो सिक्ख का मार्ग है, उस पर एक ही पद नहीं पहुँच सकते। इस मार्ग में सीढ़ियें हैं, जिन पर एक एक करके चढ़ा जाता है और फिर जाकर अपने स्वामी के साथ मिला जाता

है। इन सीढ़ियों को आगे चलकर खंड कहा है। मनुष्य इन सीढ़ियों के नीचे खड़ा हुआ परमात्मा को अपने से इतना ऊँचा देखता है कि वहां पहुंचने के लिए अपने आप को असमर्थ समझता है। पर उसे गुरु जी यह कहकर आशा बंधाते हैं कि परमात्मा की असमानी बातें ऐसी खैंचवाली हैं कि मनुष्य चाहे कितना ही नीचे क्यों न हो, फिर भी उस के भीतर ऐसी "जोति" (ज्योति) और "वडिआई" (बड़ाई) के भाव डाल दिये हैं कि उस का दिल परमात्मा के मिलने को उछल ही पड़ता है। पर इस मार्ग पर चलते हुए मनुष्य की दृष्टि परमात्मा की क्षमा दृष्टि पर ही टिकनी चाहिये। और यही विचार होना चाहिये कि जो कुछ मिलेगा, परमात्मा की कृपा से ही मिलेगा। मेरे अपने कर्म के बल से कुछ नहीं बनता। और जो पुस्तकों वा मनुष्यों ने डींगें मारी हैं कि अमुक कर्म करने से अवश्य परमात्मा वश में हो जाता है, सर्वथा मिथ्या हैं।

इकदू जी भौलख होहि लख होवहि लखवीस।
लखु लखु गेड़ा आखि अहि एकु नामु जगदीस॥

यदि एक जिह्वा के स्थान पर हमारी लाख जिह्वाएँ हो जाँय, फिर वे लाख भी बीस लाख हो जाँय, तौ भी हम एक एक जिह्वा से लाख लाख बार एक जगत् पति का नाम लेंगे।

एतु राहि पति पवड़ीया चड़ीए होइ इकीस॥

इस पति के मार्ग में सीढ़ियें हैं, जिन पर चढ़कर ईश्वर में लीन हो जाते हैं।

सुणि गला आकास की कीटा आइ रीस।

परमात्मा की आसमानी बातें सुनकर नीच से, नीच जीव को भी मिलने का चाव उत्पन्न हो जाता है।

नानक नदरी पाइऐ कूड़ो कूड़े ठीस ॥३२॥

हे नानक! प्राप्ति तो परमात्मा की कृपा दृष्टि से ही होती है। और झूठों की झूठी गप्पे हैं।

५३

बिना परमात्मा की कृपा से यदि कोई जप तप के बल से परमात्मा की प्राप्ति करना चाहे तो व्यर्थ है। क्योंकि अपने बल से कुछ भी नहीं मिलता।

आखणि जोरु चुपै नह जोरु।

हमारे पास बोलने के लिए अपनी कोई शक्ति नहीं, न ही चुप रहने की सामर्थ्य है।

जोरु न मंगणि देणि न जोरु।

न मांगने के लिए और न देने के लिए अपनी कोई शक्ति है।

जोरु न जीवणि मरणि नहि जोरु ।

न जीवने के लिए और न मरने की अपने में सामर्थ्य है। हम तो "चल्ले आवहि नानका सद्दे उट्ठी जाहि" (म० २, सारङ्ग की वार)

जोरु न राजि मालि मनि सोरु ।

हमारे पास राज्य वा धन के लिए, जो चित्त में इतना कोलाहल पाते हैं, कोई अपनी सामर्थ्य नहीं है। जो हमारे पास राज्य वा धन है, जिस से हम इतनी फूँफां करते हैं, वह भी ईशकृपा से लिया है। अपने बल से नहीं।

जोरु न सुरती गिआनि वीचारि ।

हमारे पास आत्मिक जाग्रति उत्पन्न करने, जानने वा सोचने के लिए कोई सामर्थ्य नहीं है।

जोरु न जुगती छुटै संसारु ।

और न ही हमारे पास उस प्रणाली को ढूंढ़ने के लिए शक्ति है, जिस से संसार छूट जाता है अर्थात्, जीवन मृत्यु दूर होती है।

जिसु हथि जोरु करि वेखै सोइ ।

जिस परमात्मा के हाथ में शक्ति है, वही कर कर के

देखता है; अर्थात् कर्तार और सम्हालने वाला वही है जिस के पास शक्ति है।

नानक उतमु नीचु न कोइ ।

हे नानक! अपने बल से कोई भी अच्छा वा बुरा नहीं हो सकता। ऊँच वा नीच बनाने वाला परमात्मा आप ही है।

३४

अब आगे गुरू जी इन पौड़ियों को विस्तार पूर्वक बतलाते हैं, जिन का वर्णन "एतु राहि पति पवड़ीआ" वाली तुक में आया है। यह चाल चलन की उन्नति की सीढ़ियें हैं जिन पर चढ़ कर मनुष्य जीवन के उच्च शिखर पर जा खड़ा होता है। इन पौड़ियों को पढ़ने से पता लगेगा कि गुरू जी को मनुष्य की मुक्ति की इतनी चिन्ता नहीं, जितनी उसे मुक्ति के योग्य बनाने की है।

संसार में दो प्रकार की माताएं होती हैं। एक तो वह होती है जो अपनी लड़की को न कुछ सिखाती है न पढ़ाती है, केवल इसी धुन में लगी रहती है कि कैसे मेरी लड़की को अच्छा सुन्दर और धनी पति मिल जावे। दूसरी वह होती है जो बहुत समय अपनी कन्या की तैयारी में लगाती है कि कैसे वह शील अने संजम सीख कर उत्तम से उत्तम पति के योग्य हो जाय। गुरू नानक साहिब उस दूसरे प्रकार की माता की तरह है, जो मनुष्य को मिला मिलाया स्वर्ग वा मुक्ति नहीं

बतलाते, बल्कि उसे बड़े यत्न से मानुष जीवन के ऊँचे से ऊँचे गुण देकर परमात्मा की प्राप्ति के लिये तैयार करते हैं। इसी लिये गुरु जी को अपने सिक्खों की व्यक्तिगत और जातीय तयारी के लिये दश अवतार धार कर आना पड़ा और अब भी अपने पंथ के अङ्ग संग रहते हैं। यदि यह मनोरथ न होता तो एक बार ही कुछ बतला कर या लिख कर छोड़ जाते।

जब मनुष्य में पहले पहल धार्मिक वृत्ति जाग उठती है, तो उस की दृष्टि प्रकृति में इस आने वाली वस्तुओं पर पड़ती है। वह देखता है कि देश काल की सीमा में, अर्थात् अग्नि, पानी, वायु, आकाश, पाताल, रात, दिन के बीच पृथ्वी रक्खी हुई है। यदि अग्नि जल और रात दिन का कोई मनोरथ है, तो पृथ्वी के बनाने का भी कोई मनोरथ अवश्य होगा। यदि वह अपने २ कर्त्तव्य पालन कर रहे हैं तो पृथ्वी भी किसी के कर्त्तव्य पालन का स्थान [धर्मसाल] होगी। वह देखता है कि दिन के बाद रात और शीतकाल के पीछे उष्ण-काल अवश्य आता है। यदि हाथ आग में डालें तो जलता है, और पानी में डालें तो भीगता है। इस बर्ताव से यह परिणाम निकलता है कि एक बार किसी कारण से कोई कार्य्य बने तो फिर वही कारण एकत्र हों तो वही कारण बनता है। यह

नहीं कि अग्नि आज जलाती है तो कल भींगो देगी; आज पीले और नीले रंग के मेल से हरा रंग बनता है तो कल इनके मेल से लाल रंग बन जायगा। वह विचारता है कि पृथ्वी में जो कई प्रकार और रंगों के जीव रखे गये हैं, उनके वर्तने में भी वैसे ही नियम होने चाहियें। इसलिये प्रकृति में वर्त रहे नियम धार्मिक वर्तन ऊपर घटाता और मानता है कि "करमी करमी होइ विचारु" जो अच्छे कर्म करेगा उसे अच्छा फल मिलेगा और जो बुरे कर्म करेगा उसे बुरा फल मिलेगा। परमात्मा का स्वरूप भी न्यायकारी ही दीखता है। इस से बढ़कर उसे कुछ पता नहीं होता; और न वह इधर उधर की बातें जानने में समय लगता है। वह कहता है कि इन बातों का आगे चलकर पता लग जायगा। यहां तो यहां के कर्तव्यों का ही पालन करना पर्याप्त है। इस दशा में जीवन का उद्देश्य केवल कर्तव्य पालन करना या नियमों का पालन करना ही दीखता है। इस लिये इस को कर्तव्य वो नियम का पद कहा है।

राती रुती थिती वार।
पवण पाणी अगनी पाताल।
तिसु विचि धरती थापि रखी धरमसाल।

यह जो ऋतु, रात, तिथि और वार हैं, और वायु, जल,

अग्नि और पताल हैं, इन के मध्य में पृथ्वी के फ़र्ज़ करने की जगह बना कर रक्खा है।

रचना की बाँट देश और काल पर की हुई है। चूंकि सबसे पहली रचना काल की हुई थी, इसलिये इस का वर्णन पहले है। काल की बाँट दिन, रात, तिथि, वार और ऋतु पर की हुई। देश से भाव पृथ्वी नक्षत्र आदि ठोस रचना और उन के आस पास का फैलाव है। ठोस रचना की बाँट अग्नि पानी आदि तत्त्वों में की हुई है, और फैलाव के ऊपरली भाग को आकाश और नीचे के भाग को पाताल कहते हैं। इस सारे देश काल की रचना में पृथ्वी रक्खी हुई है। जब मनुष्य धर्म-खण्ड वाली अवस्था में होता है तो उसे पता लगता है कि सारी रचना में से मनुष्य की ही इख़लाकी तौर पर जिम्मेवार हस्ती है, और क्योंकि इस का निवास पृथ्वी पर है, इस लिये पृथ्वी उसे कर्त्तव्य क्षेत्र प्रतीत होती है। अगले खण्ड में चल कर चाहे उसे कई और कर्म क्षेत्रों का भी पता लग जायगा, पर अभी वह निम्न अवस्था में है।

तिसु विच जीअ जुगति के रंग।
तिन के नाम अनेक अनन्त।

उस पृथ्वी में कई ढगों और रंगों के जीव हैं। उन के कई प्रकार के अनन्त नाम हैं।

करमी करमी होइ वीचारु ।

उन का अपने अपने कर्मों पर निपटारा होगा ।

सचा आपि सचा दरबारु ।

परमात्मा आप न्यायकारी है और उस की कचहरी भी न्याय वाली है ।

तिथै सोहनि पंच परवाणु ।

नदरी करमि पवै नीसाणु ।

उस के दरबार में स्वीकृत हुए पूर्ण पुरुष ही शोभा पाते हैं और उन्हें ही कृपा और बख़शिश द्वारा परवानगी का चिन्ह मिलता है ।

कच पकाई ओथै पाइ ।

नानक गइआ जापै जाइ ॥ ३४ ॥

अधूरे या पूर्ण होने की परीक्षा वहीं होती है पर हे नानक! इस बात का पता वहीं जाकर लगता है कि कौन कच्चा है और कौन पक्का है ।

३५

यह तो हुई कर्तव्य श्रेणी की बात । आगे विचार श्रेणी का बर्ताव बतलाते हैं । पहले तो मनुष्य जो कुछ अपनी

आँखों के सामने देखता था, उस से ही परिणाम निकालता और नियम बनाता था। अब विचार की आँखें खुल जाने से देश और काल की सीमा और भी विस्तृत दिखाई देने लगती है। पहले तो एक ही पृथ्वी में थोड़े से तत्व कार्य्य करते दिखाई देते थे अब इस पृथ्वी के अतिरिक्त और भी कई कर्म-क्षेत्र और उन में कार्य्य कर रहे तत्वों का ज्ञान हो जाता है। कई प्रकार की रचना की कई परम्पराएं और उन को घड़ने वाली कई शक्तिएं दिखाई देने लग जाती हैं, और भ्रम दूर हो जाते हैं। काल की सीमा भी पहले केवल दिन रात और ऋतु-ओं तक ही सीमा बद्ध थी। अब विचार में ऐतिहासिक ज्ञान भी आ जाता है। मनुष्य पिछले समय में भी इसी प्रकार दृष्टि दौड़ा सकेगा जैसे वर्तमान समय में। वह देखेगा कि मेरे बिना इस पृथवी पर "ध्रुव" "बुद्ध" गोरख जैसे कई और भी हुए हैं, जिन्होंने धर्म कमाने वा "सुरति सेवक" होने का प्रयत्न किया है। इस मार्ग में मैं अकेला ही नहीं हूं। आगे धर्म पालने के लिये प्रेरणा केवल कर्त्तव्य के भाव से था, जिस में बुरे परिणाम से डर कर कार्य्य करना पड़ता था, अब नेकी में ऐतिहासिक मनोविनोद उत्पन्न हो जायगा और धर्म पालना इस लिये अच्छा लगेगा कि इस से पहले बड़े २ महा पुरुष भी इसी मार्ग पर चलते आये हैं।

धर्म खण्ड का एहो धर्मु।

गिआन खण्ड का आखहु कर्मु ॥

कर्त्तव्य के दर्जे का यहो नाम है। अब विचार के दर्जे का वर्ताव बतलाते हैं।

केते पवण पाणी वैसंतर केते कान महेस
केते बरमे घाड़ति घड़ीअहि रूप रङ्ग के वेस॥

उस दशा में वायु जल अग्नि आदि तत्व दीखते हैं। कई (विष्णु रूप) कृष्ण और शिव आन पड़ते हैं, और कई ब्रह्मा, कई रंग और वर्ण की रचना रच रहे दीखते हैं।

यहां भाव उत्पत्ति पालन और क्षय करने वाली अनेक शक्तियों से है जो प्रकृति कार्य करती दीख पड़ेंगी।

केतीआ कर्म भूमी मेर
केते केते धू उपदेस ॥

यहां कर्म करने की कई पृथिव्यें और कई सुमेरु पर्वत दीखते हैं। वहाँ कई ध्रुव भक्त, कई नारद मुनियों से उपदेश लेते दीखते हैं। अर्थात् इतिहास में से ध्रुव जैसे और कई मनुष्यों के उदाहरण मिलेंगे जिनमें बाल्यावस्था से ईश्वर भक्ति का प्रेम उत्पन्न हो गया। "पाँच बर्ष को अनाथु ध्रुव बारिक हरि सिमरत अमर अटारे" (मारू म० ५) "नारद कहत सुनत ध्रुव बारिक भजन माहि छपटानो। अबल अमर निरभै पदु पाइयो

जगत जाहि हैरानो " (बिलावल म० ६) ध्रुव 'चरित्र के लिये देखो भाई गुरुदास, वार १० (१)।

तेके इंद चंद सूर केते केते मंडल देस।

वहां कितने ही इन्द्र, चन्द्र, और सूर्य हैं और कितने ही लोक और खंड हैं।

इन्द्र से भाव वर्षाने वाली शक्ति से है। विज्ञान बतलाता है कि सारे ब्रह्मांड में कई सूर्य हैं जिनके चारों ओर कई पृथ्वियें और तारे चक्कर लगा रहे हैं, 'और कई चन्द्र हैं, जो अपने अपने तारा मंडल के इधर उधर चल कर प्रकाश दे रहे हैं।

केते सिध बुध नाथ केते केते देवी वेस।

वहां कितने ही शक्तिएं साधने वाले, ज्ञान को पहुंचे हुए और बड़े योगी होते हैं, और कितने ही देवी का स्वरूप हैं। अर्थात् ज्ञान बढ़ जाने से मनुष्य को केवल भारतवर्ष में माने जाते चौरासी सिद्ध, नव नाथ और कुछ गिनती के बुद्ध ही नहीं दीखेंगे, वरन् संसार के इतिहास में ईसाइयों मुसलमानों इत्यादि के इतिहास में भी जैसे यत्न करने वाले कई लोगों का पता लगेगा। देश देशानुसार देवी की शक्ति कई नामों में मानी जाती दीखेगी। जो भारतवर्ष में लक्ष्मी, दुर्गा, काली, चण्डी, भगवती आदि रूपों में भी पूजी जाती हैं वही यूनान, मिश्र आदि देशों में जूनो, फिअरो, आईसिस आदि नाम से मानी जाती रही हैं।

केते देव दानव मुनि केते केते रत्न समुंद ।

कितने ही देवते, दैत्य और ऋषि मुनि हैं, कितने ही समुद्र और उन में से मथन करके निकाले हुए रत्न हैं।

केतीआ खाणीकेतीआ बाणी केते पात नरिंद।

(जीवों की चार खान के स्थान) कई खान दीखेंगी और कितनी ही उन की ध्वनियें और भाषाओं का पता लगेगा । कितने ही बादशाहों के वंशज विदित होंगे ।

केतीआ सुरती सेवक केते
नानक अंतु न अंतु ॥ ३५ ॥

कितने ही ऊँची वृत्ति वाले और सेवा करने वाले दीखेंगे जिन का, हे नानक, कोई अंत नहीं ।

३६

कर्तव्य के खंड में बुरे कार्यों का बुरा परिणाम डरा कर धर्म की ओर लाया था। विचार के खंड में शुद्ध भूगोलिक ज्ञान द्वारा भ्रम दूर होंगे और ऐतिहासिक नमूने देख कर धर्म की ओर पूरी रुचि बढ़ेगी। पर यह सारी उन्नति केवल दिमागी चक्र में होगी, जहां ज्ञान ही प्रधान होता है। धर्म में दृढ़ होने के लिये आवश्यक है कि धर्म स्वभाव में प्रवेश कर जाय और सदा सोचने पहिचानने वा पढ़ने के लम्बे मार्ग में

न पड़ना पड़े। इस लिये निरन्तर उद्यम का आवश्यकता है, जिस के द्वारा हमारे भीतर के सारे उद्गार और वृत्तियें धर्म के साँचे में ढल जाँय इस अवस्था को "शर्म-खंड" कहा है।

हमारे विचारों और वृत्तियों का यह नियम है कि जो उन में से किसी को कुछ काल तक न वर्तें तो वह निर्जीव हो जाता है और यदि किसीको निरन्तर वर्तें तो वह हमारा स्वभाव बन कर हमारे आचरण का दृढ़ भाग बन जाता है। इसीलिये गुरु जी ने इस अवस्था का नाम शर्म-खंड रक्खा है । शर्म के यथार्थ अर्थ हैं लगातार वर्षना, चोना या टपकना, जैसे मींह बरसता है या दूध वर्तन में दोहा जाता है या आँखों से आँसू टपकते हैं। मुहाविरे से शर्म का अर्थ यत्न वा उद्यम है, जिस से हमारी वृत्तियें, भाव और उद्गार किसी एक मनोरथ की सिद्धि के लिये हमारे भीतर से अपने आप वह चलते हैं और निरन्तर ऐसे करने से हमारा स्वभाव ही बन जाता है। फिर जब भी किसी के दुःख को देखेंगे तो हमारा मन तत्काल पसीज जायगा और दया का उद्गार उत्पन्न हो कर हमें नेकी की ओर प्रेरणा करेगा। वा जब किसी पर बलात्कार वा अन्याय होता देखेंगे तो तत्काल हमारे मन में आवेग आ जायगा और बलिदान का भाव उत्पन्न हो जायगा। इस अवस्था पर पहुंच कर नेकी का रूप ही ऐसो खैंच उत्पन्न कर देगा कि इस के लिये किसी भय युक्ति वा विचार की

आवश्यकता ही न रहेगी। क्योंकि यह सारी प्रेरणा केवल रूप के द्वारा प्रकट होती है, इसलिये इस खंड की बाणी (प्रकट करने का ढंग) को " रूप " कहा है।

गिआन खंड महि गिआनु परचंडु।

विचार के खंड में ज्ञान ही ज्ञान जागृत होता है।

तिथै नाद विनोद कोड अनंदु।

उस दशा में मनुष्य को सुनने और देखने वाली वस्तुएं कई प्रकार के स्वाद देती हैं। चारों ओर से ज्ञान हो जाने के कारण मनुष्य की ऐसी दशा हो जाती है कि छोटी से छोटी वस्तु के देखने या सुनने से बड़े बड़े आनन्ददायक भाव उत्पन्न हो जाते हैं।

सरम खंड की बाणी रूपु।

उद्यम की अवस्था पर पहुंच कर धर्म के लिये प्रेरणा रूप के द्वारा प्रगट होती है।

तिथै घाड़ति घड़ीऐ बहुतु अनूपु।

वहां आचरण की रचना अति सुन्दर होती है।

ताकीआ गला कथीआ न जाहि।

जे को कहै पिछै पछुताइ।

इस अवस्था का ब्योरा बतला नहीं सकते । यदि कोई बतलाये, तो उसे पीछे लज्जित होना पड़ता है।

तिथै घडीऐ सुरति मति मनि बुधि ।

उस अवस्था पर पहुँच कर सुर्त को वृत्ति और मन में समझ घड़ी जाती है । "मनि" के साथ परिशिष्ट नियम १ (अ) वाली "ि" है और अर्थ है, मन में ।

तिथै घड़ीऐ सुरा सिधा की सुधि ॥ ३६ ॥

वहाँ ऊँची कमाई वाले महापुरुषों वाली भावके घड़े जाते हैं।

३७

उपरोक्त सारी तैयारी क्रियारूप अवस्था तक पहुंचने के लिए थी। अब मनुष्य के आचरण की सारी शक्तियें संगठित हो गई हैं और वह एक बलवान् योद्धा बन गया है। उसके हृदय में सदा परमात्मा वास करता है इस लिए उसे न कोई मार सकता है और न कोई ठग सकता है। उस अवस्था में केवल पुरुष ही नहीं पहुंचते वरन् सीता जैसी सती साध्वी आदर्श विदुषी महिलाएं भी कमाई करके पहुंचती हैं और सदा परमात्म की बड़ाई में लीन रहती हैं। उन की सुन्दरता का वर्णन नहीं हो सकता।

कर्म खण्ड की बाणी जोरु ।

अमल की अवस्था में पहुंच कर प्रकट होने का वसीला बल है। अर्थात् वहां पहुँच कर मनुष्य के कार्य बल वाले होंगे। क्योंकि उस का जीवन जो अमल वाला हो गया है।

तिथै होरु न कोई होरु ।

तिथै जोध महाबल सूर ।

तिन महि राम रहिआ भरपूर ।

उस अवस्था में पहुँचे हुए और कोई नहीं होते, केवल महान् बल वाले योद्धा ही होते हैं। उन में राम कूट कूट कर भरा हुआ है।

तिथै सीतो सीता महिमा माहि ।

ताके रूप न कथने जाहि ॥

वहां सीता ही सीता भरी पड़ी हैं, जो राम की बड़ाई में रहती हैं। उन के सौन्दर्य का वर्णन नहीं हो सकता।

गुरु जी ने आदर्श स्त्रियों का उदाहरण देने के लिए सीता का नाम लिया है। गुरु साहब से पहले भारतवर्ष में इस से उत्तम उदाहरण मिलना कठिन था।

न उहि मरहि न ठागे जाहि ।

जिन कै रामु वसै मन माहि ॥

जिन के हृदय में राम रम रहा है, उन्हें न कोई मार सकता है और न ठग सकता है। वे किसी के भुलाने से भूलते नहीं।

तिथै भगत वसहि के लोअ।

करहि अनंदु सचा मनि सोइ।

वहां कई देश परमात्मा के प्यारों के बसते हैं, जो उस सच्चे (परमात्मा) को हृदय में रख कर आनन्द ले रहे हैं।

इस से आगे गुरु जी सबसे ऊंची अवस्था का वर्णन करते हैं, जहाँ सच्चा परमात्मा स्वयं वास करता है। इसे " सच खण्ड' कहा है। यहां पहुंच कर मनुष्य "सचिआर' होकर सबसे एक मय हो जाता है, और उस की अपनी इच्छा परमात्मा की इच्छा के सर्वथा अनुकूल हो जाती है, और उस से वही कार्य होते है जो परमात्मा को अच्छे लगते हैं।

सच खंडि वसै निरंकारु।

करि करि वेखै नदरि निहाल॥

सत्य (सच्च) के देश में निराकार परमात्मा स्वयं रहता है, और सृष्टि को रचना कर कृपा दृष्टि से उस की रक्षा करता है।

तिथै खंडि मंडल वरभण्ड ।

जे को कथै त अन्त न अन्त ॥

वहां पहुंच कर मनुष्य देखता है कि परमात्मा के बनाए हुए कई देश, लोक और ब्रह्माण्ड हैं, जिन का यदि कोई वर्णन करने लगे तो अन्त ही नहीं मिलता।

तिथै लोअ लोअ आकार

वहां लोकों के लोक और उन में बनी हुई वस्तुओं का आकार ही बतला रहे हैं।

जिव जिव हुकमु तिवै तिवकार ।

वहां जैसे जैसे परमात्मा आज्ञा देता है वैसे वैसे ही कार्य होते हैं।

वेखै विगसै करि वीचारु ।

नानक कथना करड़ा सारु ॥३॥

वह मनुष्य इस वर्ताव को देख देख कर और विचार विचार कर प्रसन्न होता है। पर हे नानक! (जो कुछ वह देखता है) उस का वर्णन करना लोहे जैसा कठिन है।

३८

जपुजी साहब में जो गुण प्राप्त करने के लिए बतलाये

हैं, वे बैठे बैठे नहीं मिल जाते। उन के लिए क्रियात्मक प्रणालियों का प्रयोग करना पड़ता है। धार्मिक जीवन बनाना ऐसे ही है, जैसे सुनार किसी धातु को लेकर उसे अग्नि में डाल कर तपाता है और ढालता है और उस पर बल से हथौड़े की चोटें मार मार कर किसी आकृति में लाता है। इसी प्रकार मनुष्य को पवित्रता के घर में बैठ कर धैर्य द्वारा अपना जीवन घड़ना पड़ता है। पहले अपने अमर आत्मा को सेवा के कठोर परिश्रम रूपी आगमें डालना पड़ता है और परमात्माके भय से उस अग्नि को प्रचण्ड करके ;अपने आप को प्रेम में ढालना पड़ता है, क्योंकि "भै बिनु घाड़त कचु नि कचु । अन्धा सचा अन्धी सट" (गउड़ी गुआरेरी म० १ । फिर अपनी बुद्धि को नीचे रख कर ऊपर से गुरु वाणी की चोटें लगा लगा कर अपने आपको शोधना पड़ता है। बुद्धि को "आहरणि" इस लिये कहा है कि सुधार का आरम्भ तो अपनी बुद्धि के आश्रय पर ही शीघ्र है। यदि अपना बुद्धि हीन हो तो शब्द वा शिक्षा को सुनेगा कौन ? वाणी को हथौड़ा इस लिये कहा है कि इसी की चोटों ने हमारे आचरण को इधर उधर मोड़ कर किसी आकृति में लाना है।

जतु पहारा धीरजु सनिआरु ।

धैर्य को आचरण के घड़ने वाला बनाओ जो पवित्र

के स्थानमें बैठ कर काम करे। अहरणि, हथौड़े, खाल और अग्नि काम क्रम २ से प्रयुक्त होते आते हैं। पर पवित्रता और धैर्य के दो गुण वे हैं जिन्हों ने आचरण की गढ़ने के कार्य में सदा प्रयुक्त होना है। इस लिये इन दोनों को "पहारा" और सुनार कहा है क्योंकि यह सदा उपस्थित रहते हैं।

अहरणि मति वेदु हथिआरु ।

अपनी साधारण बुद्धि को "अहरणि" और गुरबाणी को हथौड़ा बनाओ।

भउ खला अगनि तप ताउ ।

परमात्मा के भय को खल्ल फूंको और कठोर परिश्रम की अग्नि जलाओ। सतिगुर की सेवा इहु तपु परध णु" (म० १ वार रामकली)। "गुर सेवा तपा सिरि तपु सारु" (आसा म०१)

भांडा भाउ अमृतु तितु ढालि ।

प्रेम का भांडा बनाओ, उस में अपने अमर जीवन को ढालो।

घड़ीऐ सबदु सची टकसाल ।

शाब्दिक अर्थ—इस तरह से सच्ची टकसाल का शब्द घड़ा जाता है। अर्थात् एक सच्चा टकसाली आचरण गढ़ा जाता है। "सबदु" का अर्थ जीवन का मार्ग या रीति है। जैसे

'आसा दी वार'' में "जोग सबदं गिआन सबदं" का अर्थ योगियों के रहने की रीति ज्ञान वाली रीति है। इसी तरह "अम्दरहु जिनका मोहु तुटा तिनका सबदु सचै सवारिआ" (अनन्दु) में शब्द का अर्थ आचरण है। गुरमुखि सेवा घाल जिनि घाली। तिसु घड़ीए सबद सची टकसाली।" (भैरव म० ४) टकसाल का अर्थ टकसाल में नहीं हो सकता, क्योंकि इसके साथ में सम्बन्धों का ' । ' नहीं है।

जिन कउ नदरि करमु तिन कार।

यह कार्य्य उनका ही है जिन्हें परमात्मा की कृपा प्राप्त हुई है अर्थात् अपने जीवन को ऊपर बतलाई विधि से ढालने का कार्य्य उन्होंने ही पकड़ा है, जिन्हें परमात्मा की बखशिस हुई है।

नानक नदरी नदरि निहाल ॥३८॥

हे नानक! जब परमात्मा की कृपादृष्टि हो जाय तो वह एक दृष्टि में निहाल कर देता है।

सलोकु

यह श्लोक "माझ" की "वार" में गुरू अङ्गद जी के नाम से लिखा हुआ है। केवल एक दो शब्दों का ही भेद है। और देखो माझ सोहले म० १, और भाई गुरदास वार २ (१९) और ६ (५)।

पवणु गुरू पाणी पिता माता धरति महतु

(मनुष्य की बनावट में प्रकृति का यह भाग है) पानी पिता है और पृथ्वी,जो इतनी बड़ी है माता है। और वायु गुरू है। पानी पिता इस लिये है कि " पहला पानी जीउ है"; इसके मिलने से वस्तुएं उत्पन्न होती हैं और हरी भरी होती हैं। जैसे माता के पेट में बच्चा उत्पन्न होता है, और वह पालन करती है, वैसे ही बीज पृथ्वी में रक्खें तो उत्पन्न होते हैं और पृथ्वी हमारा अन्न और फलों से पालन करती है। वायु को गुरू इसीलिये कहा है कि जैसे गुरू बिना मनुष्य की सुधि निर्जीव रहती है, वैसे स्थूल शरीर वायु के बिना श्वास नहीं ले सकता, और न बोल सकता है।

दिवसु राति दुइ दाई दाइआ खेलै सगल जगतु

रात धाया है और दिन धाय है, जिनकी गोद में संसार के लोग खेलते हैं।

चंगिआईआ बुरिआईया वाचै धर्मु हदूरि।

मनुष्यों के अच्छे और बुरे कर्म वह न्यायधीश अपने सामने पड़ताल कराता है। परमात्मा स्वयमेव धर्मराज है और हमारे भीतर बैठ कर हमें देख रहा है-" हरि आपि बहि करे निआउ" (म० ४, वार श्री राग)। यदि " धर्मु हदूरि " का अर्थ "धर्म के हजूर" होता तो "धरमु" के अन्त में " ु "न होता।

देखो परिशिष्ट, नियम १५ 'धरमु" कर्ता कारक में है।

करमी आपो आपणी के नेड़े के दूरि।

अपने २ कर्मानुसार कोई तो परमात्मा के समीप हो जाते हैं और कोई दूर फैंके जाते हैं। स्वर्ग यही है कि मनुष्य परमात्मा का सामीप्य प्राप्त कर ले, और नरक यही है कि परमात्मा से दूर फेंका जाय॥

जिनी नामु धिआइआ गए मुसकति घालि।
नानक ते मुख उजले केती छुटी नालि॥१॥

जिन्हों ने परमात्मा का नाम स्मरण रक्खा है, वे तो अपना परिश्रम सफल कर गये। हे नानक! उन के मुख चमकते हैं (मात्र यह कि वह स्वयं निश्चिन्त हो गये हैं) और उनकी संगति करके और कई मुक्त हो गये हैं।

परिशिष्ट ।

जपुजी साहब में प्रयुक्त हुए शब्दांतक स्वर मात्रा के कुछ नियम ।

सिहारी (ि)

१—सिहारी सब से अधिक सम्बन्ध-द्योतक अर्थों में प्रयुक्त हुई है । "विचि" उपरि" "नालि" आदि शब्द जो किसी वस्तु का किसी और वस्तु के साथ उपाधि वा स्थान का सम्बन्ध प्रकट करते हैं, उन के अन्त में सिहारी अवश्य आती है। और यही सम्बन्ध बतलाने के लिए नाम के अन्त में भी सिहारी आती है ।

(अ) सम्बन्धित पदों के अन्त में—"विचि"—"नवाखंडा विचि जाणीऐ" । उपरि"—"धवलै उपरि"। "अन्दरि"—"हुकमै अन्दरि सभु को" । "संगि"—"मणीऐ मति पापा कै संगि" । "तुलि"—"कीड़ी तुलिन न होवनी" ।

(आ)नाम के अन्तमें सम्बन्धित चिन्ह स्वरूप—सोचि = सोच में—"सोचै सोचि न होवई" । समुन्दि = समुद्र में । "नदीआ अते वाह पवहि समुन्दि"।हुकमि = हुक्म द्वारा।"हुकमी मिलै वडिआई" । सहजि = सहज में । "लागै सहजि धिआनु" मुहि = मुंह पर । "मंने मुहि चोटा न खाइ" सिरि = सिर पर । "असंख कहहि सिरि भारु होइ" का अर्थ कई सज्जन इस

प्रकार करते हैं कि अगिनित लोग शिर के बल होकर कहते हैं परमात्मा को। पर यदि यह अर्थ होता तो 'सिरि" का "र" खाली होता और सिहारी "मारू" के "र" के साथ होती। जैसे "आसा दी वार" में—"भैकिचि इन्दु फिरै सिरु मारि"।

कागदि (कागज़ पर)—" कागदि कलम न लिखण हारु"। और जगह जहां सम्बन्धित चिन्ह की आवश्यकता नहीं, वहां कागद" के द के साथ सिहारी नहीं होती;—जैसे, "वसुधा कागद बनराज कलमा।" (आसा म० ५) "कागर" और "कागल" के अन्त में भी सिहारी नहीं होती।

क्योंकि भावार्थ भी नाम की तरह बर्ते जाते हैं इसलिये उनके साथ भी सिहारी सम्बन्धित होकर आती है-"अन्त, न करणै देणि न अन्तु", "जोरु न मगणि देणि न जोरु" यहां सिहारी के लिये, 'में" "को" के अर्थ में आई है।

२-सिहारी स्थान वाचक क्रिया-विशेषण के साथ भी उसी तरह आती है, जैसे सम्बन्धित के साथ, वरन् प्रायः वही सम्बन्धित क्रिया विशेषण का काम देती है, जब उनके साथ सम्बन्धित नाम नहीं होते या छिपाये जाते हैं। जैसे-"नालि" "हुक न चले नालि"। "दूरि"-जाप दिसै दूरि"। "फिरि-जीअ लै फिर देह।"

३—सिहारी पूर्व पूर्ण कारदंतक के धातु शब्द के अन्त में भी आजाती है, अर्थात् जिस शब्द के अर्थ हों अमुक कार्य करके उसके अन्त में सिहारी अवश्य होती है।

"सुणि"—"जितु सुणि घरे पिआरु" "करि"-करि करि वेखै", "आखि"—"आखि आखि रहे लिवलाइ" । "लिखि"—"लिखि लै जाहु" । 'भखि"—" असंख मलेछ मलु भखि खाहि" । यहां " मलु भखि" के अर्थ "मैल खा कर" है । कई सज्जन "मलु-भखि" को एक संयुक्त शब्द मानते हैं, और अर्थ करते हैं,— "मैल खाने वाले", पर गुरु-वाणी में जहां भी यह शब्द जोड़ कर कर्तृ-वाचक संज्ञा बनाई है, वहाँ इन का आकार और है— " निंदकु निंदा करि मलु धोवै, उह मलभखु माइआधारी" (गूजरी म० ४) । इसी प्रकार " जे कोआखै बोलु विगाडु" के अर्थ किया करते हैं,-"यदि कोई शब्दों को बिगाड़ कर कहे" । पर यदि यह अर्थ होता, तो "बिगाड़" के "ड़" के साथ सिहारी होती । क्योंकि है, नहीं, इस लिये "बोल--बिगाडु" को एक संयुक्त पद मानेंगे, और इसका अर्थ करेंगे "बोल को बिगाड़ने वाला"—"असी'बोल बिगाड़ बिगाड़ह बोल,, (श्रीराग म० १) । आम मुहाविरे में भी इसी प्रकार प्रयोग होता है । देखो एक पति का रोप—

" न मैनूं कहिंदी नूरमुहम्मद, न मैनूं कहिंदी जो नूरा ।
मेहमक जट्टी बोल- बिगाड़, मैनूं कहिंदी, वे नूरा ॥ ,,

४—ऊपर बतलाई कारदन्तक के साथ आना, जाना, बैठना, रहना, सकना आदि सहायक क्रिया को लगाकर जो संयुक्त क्रियाएं बनती हैं, उनमें भी कारदन्तक के अन्त में सिहारी होता है। इस कारदन्तक की शक्ल प्रत्यक्ष अनुमत्यार्थक लकार वाली होती है।

"आखि"—"होरुइ आखि न सकै कोइ"। "धोइ"—"लइऐ उहु धोइ"। "लिखि"—"एहु लेखा लिखि जाणै कोइ।" "मंनि"—"जे को मंनि जाणै"। "थकि"—"लैदे थकि पाहि"। इसी प्रकार जब भावार्थ और सहायक क्रिया के मेल से जो संयुक्त क्रिया बनती हैं, उन में भी भावार्थ के अन्त में सिहारी होती है—"आखणि"—"जे को खाईकु आखणि पाइ"। "केते आखहि आखणि पाहि"।

५—गुरुबाणी में एक प्रकार का आधीन-वाक्यांश आता है, जो आज कल लुप्त हो गया है। इसके मुकाबिले में आजकल ऐसे ऐसे वाक्यांश बन जाते हैं-"हुक्म मानने से" प्रवान होते हैं। "झूठ कमाने से" झूठ ही होता है"। पर गुरुबाणी" में इन्हीं वाक्यों को यूं पढ़ोगे—"हुकमि मंनिऐ होवै परवाणु" कूड़ि कमाणै कूड़ो होवै"। इनमें पहिले दो शब्द अधीनवाक्यांश हैं, जिन में मुख्य वाक्य का कारण बतलाया हुआ है। ऐसे

वाक्यांश में दो शब्द होते हैं, एक नाम और दूसरा क्रिया। नाम के अन्त में सिहारी अवश्य होगी और क्रिया के अन्त मे दुलावां "ै"। "मनि जीते"-"मनि जातै जगु जीतु;" मन के जीतने से जगत् जीता जाता है।

६—जब समान वर्तमान क्रिया (Presest Imperfect Verb) के अन्त में "न" हो और उसका कर्त्ता बहुवचन अन्यपुरुष (Third Person Plural) हो, तो अन्तिम "न" के साथ सिहारी अवश्य होगी। अर्थात् जब किसी शब्द के अन्त में न हो और उसके अर्थ हों, "करते हैं" "गाते हैं" "चलते हैं" आदि, तो उसके अन्तिम "न" के साथ सिहारी अवश्य आयगी। जैसे-"गावनि", "आवनि"—"होरि केते गावनि से मैं चिति न आवनि"। होवनि—"हुकमी होवनि आकार"। कई सज्जन "सुनिये मुखि सालाहुण मंदु" का अर्थ करते हैं कि "नाम के सुनने से मन्द लोग मुंह से सरहाते हैं"। यह ठीक नहीं, क्योंकि यदि "सालाहुण" का अर्थ सरहाते हैं होता तो इस के अन्त में न के साथ सिहारी होती।

७—मूलक सिहारी; अर्थात् यदि कोई शब्द किसी और बोली में से आता हुआ अपने साथ अन्तिम सिहारी लाया हो, तो वह सिहारी स्थिर रहेगी। जैसे—आदि, कोटि, सिरठि (सृष्टि), कीरति, धरति, सिमृति, गति, सुरति, मुनि, जाति, सुधि, सुअसति, तिथि, रुति, बिभूति, जुगति, राति, आदि।

भगति—भक्ति—"विणु गुण कोते भगति न होइ" पर जहाँ भक्ति करने वाले से अभिप्राय हो, वहां "भगतु" वा "भगत" आयगा—"तिथै भगत वसहि के लोअ"। बुधि—बुद्धि—"मंनै सुरति होवै मनि बुधि"। सिधि—सिद्धि—"रिधि सिधि अवरा साद"। पर जहाँ बुद्धि को सिद्धि को प्राप्त हुए मनुष्यों से भाव हो, वहां अन्त म सिहारी नहीं होती—"केते सिध बुध नाथ"।

सति सच्चा-यह विशेषण है—'सतिनामु"। पर जहाँ "सतु" नाम होता है, वहाँ इस का "त" मुक्ता (कअ) या औंकड़ (उ) वाला होता है, और अर्थ होता है "सचु" या "सत्त", "दान पुन्न"— सुणिऐ सतु संतोखु गिआनु।

पति—स्वामि वा आदर, सत्कार "पैतु राहि पति पवड़ीआ"। "मंनैपति सिउ परगटु जाइ" पर जब "पत" के अर्थ "पात्र" वा योगियों का खप्पर हो, तो इस के "त" के साथ सिहारी नहीं होती। देखो पौड़ी २८।

८—स्त्रीलिङ्ग वाचक सिहारी—

(अ) "भंडारणि", "अहरणि", "पालि", "धाइति", "दाति" आदि।

(आ) अर्बी से आये नाम जिन के अंत में "ते" की जगह "त" हो और स्त्रीलिङ्ग हों उनके अन्तिम 'त' के साथ सिहारी अवश्य होती है—'कुदरति', सिफति, "सलामति", "मसकति"।

९—संख्या वाचक अनिश्चित उपनाम (Indefinite Pronouns) की बहु वाचक संख्या प्रकट करने के लिये भी सिहारी बर्ती गई है—इकि-जब "इकि" बहु वचन नहीं होता तो इसके अंत में सिहारी नहीं होती—"असुलू इकु धातु"। पर जब यह बहु वचन उपनाम हो तो इसके अन्त में सिहारी अवश्य होगी—"इकि हुकमी सदा भवाई अहि।"

"होरि"—"होर" जब एक वचन होता है, तो इस का "र" मुक्ता या औंकड़ वाला होता है—"धरती होर परै होरु होरु"। होर दसूणी होइ" "होर आखि न सकै कोइ"। पर जब यही शब्द बहु वचन में आता है तो इस के "र" के साथ सिहारी अवश्य होती है—"एते कीते होरि करेहि" "होरि केते गावनि।"

सिहारी (ि)

१०—बहु वचन नाम के अन्त में सम्बन्धित अर्थ देते हैं—

अखरी—अक्षरों द्वारा—"अखरी लिखणु बोलणु बाणि" नदरी-दृष्टिसे—"नदरी मोखु दुआरू"। हुकमी हुकम से-"हुकमी होवनि आकार"।

११—सिहारी की जगह—

होवनी-होवनि, होते—"कीता तुलि न होवनी।"

१२—उस क्रिया के अंत में जिसके अर्थ हो, "मैं करूं"

या "करता हूँ"-सोचो-मैं सोचूं जे सोचो लख वार"। करीं-मैं करूं-"विणु भाणे कि नाइ करो।"

औंकड़ (८)

१३—एक शब्द को दूसरे से-और विशेषतः नामों और विशेषणों को अन्य शब्दों से पृथक् करने के लिये—"मंनै मगु न चलै पंथु" में "मगु" को "न" से पृथक् किया है, नहीं तो "मगन" पढ़ा जाता। पर गुरू वाणी में "मगन" के "ग" के साथ औंकड़ नहीं आता, इस लिए पाठ "मगु न" ही होगा।

१४—जब किसी तुक में कई नाम एक ही कारक में हों तो यदि के अंत में "औंकड़" हो, तो सब के साथ 'औंकड़' आयेगा-"तीर्थु तपु दइआ दतु दानु" "सुणिऐ" "सतु संतोखु गिआनु" भरीऐ हथु पैरु तनु देहु। यदि एक का अंतिम अक्षर मुक्ता है, तो सब का यही हाल होगा—"सुणिऐ सिध पीर सुरिनाथ" "कागदि कलम न लिखणहारु" में "कागदि" "कलम" और "लिखणहारु" एक ही कारक में नहीं हो सकते। "मंनै तरै तारे गुरु सिख में "गुरु" और "सिख" एक कारक मे नहीं हो सकते।

१५—पर सम्बन्ध-कारक (मुरक्कब इज़ाफी) में सम्बन्धी नाम के अन्तिम अक्षर के स से "औंकड़" उतर कर मुक्ता हो जाता है, चाहे सम्बन्धित पद, 'का' लुप्त हो वा,

प्रगट—"मनै पावहि मोख दुआरु", मोक्ष का द्वार, इस लिये "मोख" के "ख" के साथ से औंकड़ हट गया है। "एकु नामु जगदीस" में जगदीस का अर्थ है "जगदीश का" इस लिये इसके अन्तमें औंकड़ नहीं। "अगनि तप ताउ" में "तप ताउ" का तोर्थ "तप का ताउ" है, अन्यथा यदि इस का अर्थ "तप को ताउ" होता, तो जैसे आस पास इसी प्रकार के और शब्दों (जतु, धीरजु, वेदु आदि) के साथ औंकड़ आया है, "तप" के साथ भी औंकड़ होता। मूलमन्त्र में 'गुर प्रसादि" का अर्थ 'गुरु की कृपा से" है. इस लिये गुर का "र" मुक्ता है। "तिल का मानु" "दूख पाप का नासु" में भी इसी लिये "तिल" और "दूख पाप" के साथ औंकड़ नहीं आया। "मुंदा संतोखु सरमु पतु झोली धिआन की करहि बिभूति" में नियम १४ के अनुसार जैसे "संतोखु" और "सरमु" के साथ औंकड़ आया था, वैसे "धिआन" के साथ भी चाहिये था, पर इसके पीछे "की" आने से औंकड़ उतर गया है। "ऐसा नामु निरंजनु होइ" में "निरंजन" के अन्त में औंकड़ है, इस लिये इस का अर्थ "निरंजन का" नहीं हो सकता यह "नामु" का विशेषण है। इसी तरह "नानकु नीचु कहै वीचारु" में "नीचु" विशेषण है "नानकु' का, और इसका अर्थ 'नीचों का" नहीं हो सकता।